CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शन अनुचिन्तन

म०म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

18114
च द

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शन
धर्मशास्त्र

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन

181'4
च द

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 2664
Book No. 181'4
च ट
CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

BOOK-
65, Halwasiya Market,
HAZRATGANJ, LUCKNOW.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शन अनुचिन्तन

*

महामहोपाध्याय
गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

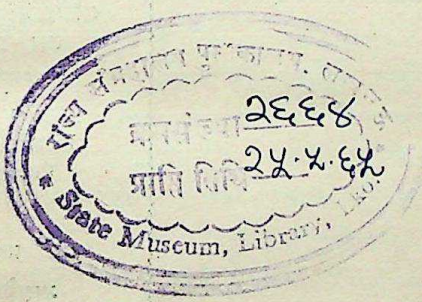

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक – २०६
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

181.4
च ६०

DARSHAN ANUCHINTAN
(Essays on Indian Philosophy)
MAHAMAHOPADHYAY
GIRIDHAR SHARMA
CHATURVEDI
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1964
Price Rs. 3.00

©

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६४
मूल्य तीन रुपये

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि शब्द

'दर्शन अनुचिन्तन' विचारकोंकी सेवामें समर्पित करते हुए प्रसन्नताका अनुभव कर रहा हूँ। यह अनेक अवसरोंपर लिखे गये दर्शन-विषयक निबन्धोंका लघु संग्रह है। कुछ निबन्ध दर्शनोंका परिचय प्रस्तुत करनेके उद्देश्यसे केवल इस पुस्तकके लिए भी लिखे गये हैं। मेरे कनिष्ठ पुत्र श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी व्याकरण-साहित्याचार्य, एम्० ए० ने अन्य पुस्तकों-की तरह ही इस पुस्तकको प्रस्तुत करनेमें भी योग दिया है। मेरे पौत्र श्री ईश्वरप्रसाद चतुर्वेदी एम्० ए० ने भी इस पुस्तकको प्रस्तुत करनेमें श्रम किया है। श्री शिवदत्तने इसके अतिरिक्त भी मेरे लेखोंके दो-तीन संग्रह प्रकाशनके लिए तैयार कर लिये हैं। मैं इनको हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ। प्रस्तुत पुस्तकको हिन्दीका सुप्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित कर रहा है। एतदर्थ मैं ज्ञानपीठके अधिकारियों, विशेष-कर श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनको धन्यवाद देता हूँ। बहुत पहले ही मेरे निर्देश-पर श्री शिवदत्तने पंजाबके तत्कालीन राज्यपाल और वर्तमानमें पूना विश्वविद्यालयके उपकुलपति श्री नरहरि विष्णु गाडगिल महोदयसे भूमिका लिखनेका निवेदन किया था। उन्होंने उसे स्वीकार कर इसकी भूमिका लिख दी। उन्हें भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

यदि इस पुस्तकसे जनताका कुछ भी उपकार हुआ तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा।

मार्गशीर्ष शुक्ल १३, २०२१ — गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
धर्म संघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी–५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीने दर्शन विषयके कुछ निबन्ध इस छोटे ग्रन्थमें एकत्रित किये हैं। इन निबन्धोंमें भारतीय संस्कृतिमें दर्शनोंका क्या स्थान है इसके बारेमें सरल और सुबोध भाषामें विचार और विवरण किया है। दर्शन तो छह हैं और कुछ विद्वानोंके मत-से इनमें परस्पर विसंगति नज़र आती है; किन्तु चतुर्वेदीजीने दर्शनोंमें परस्पर विरोध नहीं है किन्तु ज्ञानका एक क्रम है, इस सिद्धान्तको बड़े तर्कके साथ सिद्ध किया है। स्थूलसे लेकर गहन सूक्ष्म तक सिद्धान्तकी प्रगति दर्शनोंमें नज़र आती है। शनैः-शनैः सूक्ष्म तत्त्वको बुद्धिमें जमा देना यही भारतीय दर्शनशास्त्रोंकी विशेषता है। ज्ञान-साधना श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ही सिद्ध होती है। हर एक दर्शनके प्रमुख सिद्धान्त संक्षेपसे इस ग्रन्थमें बताये गये हैं।

'बौद्ध दर्शन : क्षणिकवाद' निबन्धमें बौद्ध दर्शनका विवरण है। शून्यं शून्यं, क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्—इन चारों सूत्रोंका विवरण बहुत सरलताके साथ इस निबन्धमें है। बौद्ध दर्शनका सिद्धान्त है कि किसी नयी वस्तुका उत्पादन करना या कोई कार्य करना यही सत्ताका स्वरूप है, "अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्" यह व्याख्या बिलकुल ठीक है। क्षणिकवाद सारे दर्शनोंमें पृथक्-पृथक् रूपमें आ ही जाता है और सारे दर्शनोंमें मौलिक एकता कुछ अंश तक अनिवार्य है, यह विचार इस निबन्ध-में स्पष्ट रूपसे नज़र आता है। मूल तत्त्वके एक-एक लक्षणको लेकर और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके ऊपर ज्यादा ज़ोर देनेसे विसंगति नज़र आती है किन्तु यथार्थमें वह विसंगति नहीं है।

'वेदान्त दर्शनका तत्त्वविचार' निबन्धमें परम्परागत वेदान्तके सिद्धान्तोंका विवरण दिया है और अद्वैतका सिद्धान्त बड़े सुन्दर विवेचनके साथ वाचकोंके सामने लाया गया है। धागोंका ही स्वरूप आतान-वितानके द्वारा वस्त्रके रूपमें प्रतीत होता है; और केवल स्वरूप बदला है, कोई नयी वस्तु नहीं आयी। उपमा और उदाहरणोंके साथ भी अद्वैत सिद्धान्तको वाचकोंके सामने रखा गया है। वेदान्त दर्शनका मुख्य सिद्धान्त जड़ और चेतन, स्थावर और जंगम हैं। अन्तमें इन सबको व्यापनेवाला तत्त्व एक ही है। स्वर्ण शब्दसे कुछ कल्पना आ जाती है लेकिन स्वर्ण क्या चीज़ है यह बतानेके लिए किसी चीज़का ही नाम लेना पड़ता है—कुछ गहना हो, कुछ लम्बे आकारका टुकड़ा हो या तार हो। लेकिन व्यवहारमें यह वस्तु सोनेकी है, यह सब मानते हैं। बाह्य स्वरूपमें विभिन्नता और शिथिलता होते हुए भी मौलिक वस्तु या कल्पना एक है यही व्यवहारमें भी स्पष्ट होता है और इसी दृष्टिसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वैदिक सिद्धान्तको इस निबन्धमें स्पष्ट कर दिया है।

'शब्दतत्त्वपर भारतीय दृष्टिकोण' निबन्धमें जो विवरण किया है वह मेरी दृष्टिसे एक गहन विषयका विवरण है और वैसा ही विवरण 'इन्द्रका व्याकरण' शीर्षक एक अन्य निबन्धमे भी है। भाषाविज्ञानमें भारतकी कितनी प्रगति हो गयी थी, यह दोनों निबन्ध पढ़नेसे पता लग सकता है। विद्यमान भाषाविज्ञानमें जो प्रगति नहीं नज़र आती वह भारतके शब्द-तत्त्वविवेचन और शब्द-शास्त्रोंमें आती है। भगवान् पाणिनि, कात्यायन, महाभाष्यकार पतंजलिने भाषाके प्रकट होनेकी प्रक्रिया स्थान-स्थानपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रदर्शित की है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चारों भाषाके रूपोंका विवरण भारतके प्राचीन आचार्योंने किया है। 'अनन्तपारं खलु शब्द-शास्त्रम्' यह हो तो भी बहुत प्रयत्न प्राचीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऋषियोंने किया है इस अनन्त शब्दशास्त्रको पार करनेका। वाक्शक्तिका निरूपण और व्याकरणके सिद्धान्त अनेक प्राचीन ग्रन्थोंमें जो आये हैं उनका संक्षेपमें विवरण इन दोनों निबन्धोंमें है। "वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे" यह कुछ सामान्य कल्पना नहीं है। किंबहुना वाक् और ब्रह्म समकक्ष हैं यही "यद्वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तत्" इस सूत्रसे स्पष्ट हो जाता है। 'इन्द्रका व्याकरण' निबन्धमें तो जो कुछ विवरण आया है वह बहुत गम्भीर और गहन है। शब्दसे भुवनकी उत्पत्ति मानी जाती है इसलिए शब्दका महत्त्व बहुत माना गया है। शुरूमें भाषा केवल नाद स्वरूपको ही थी और इसलिए चारों वाणियोंका महत्त्व बहुत माना गया है। जो परा वाक् होती है वह वाणीका विषय नहीं बनती, वह तो निर्विकल्पक समाधि-में ही पायी जाती है। पश्यन्ती वाणी, मनुष्यके मनमें जो कुछ आता है उसका स्वरूप है और वहाँ शब्द और अर्थ-जैसे भेद नहीं होते हैं। मध्यमा वाणीमें शब्द और अर्थ अलग हो जाते हैं किन्तु वह भाषा केवल मनके द्वारा गृहीत होती है। दूसरेको कहनेकी अवस्था जब आती है तब वैखरी भाषाके रूपमें वाणी नज़र आती है। कण्ठ-तालुका इनके साथ अभिघात होनेसे आवाज़ बाहर आती है और वह शब्द रूपमें आती है।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।

मनुष्य वैखरीको जानता है। इसलिए वैखरीका महत्त्व ज़्यादा है। शब्दशास्त्रको भी दर्शनके साथ प्राचीन ऋषियोंने जोड़ा है।

वेदान्त और अन्य दर्शन, यह तो सामान्य वाचकों के लिए एक ऐसा क्षेत्र है कि सामान्य बुद्धिका मानव इस तरफ़ देखता ही नहीं। किन्तु ऐसे गहन विषयोंको बहुत सरल और सुबोध भाषामें महामहोपाध्यायजीने सामान्य वाचकोंके सामने रखा है। सामान्य वाचक तो उनको धन्यवाद देवेंगे ही किन्तु पण्डितोंके लिए भी यह छोटा ग्रन्थ गहन विषयोंको सुबोध कैसे करना चाहिए इसके लिए एक आदर्श रहेगा। पाण्डित्य और सरलता,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्याकरण और अर्थ-सुबोधता—इनका समन्वय इस ग्रन्थमें है। विज्ञान विकसित होता है किन्तु विनाशकी ओर। जनताके लिए ज्ञान देनेके प्रयत्न-में नाशकी देन दी जाती है। यह विज्ञानका स्वरूप देशकी जनताके लिए संभ्रामक है। वेदान्त विद्या यह बताती रही है कि दुनियामें नित्य शुद्ध बुद्ध ऐसी एक वस्तु है जो अविनाशी है और विकार-रहित है, वह है आत्मा। और उसका ज्ञान प्राप्त करनेका जो मार्ग है उसमें षट्दर्शनका अभ्यास बहुत आवश्यक और उपयुक्त है। वैसे तो अध्यात्मविद्या एक महासागर है। अगर भक्त पवित्र गंगाका जल अंजलिमें भी ले तो वह गंगाका ही जल होता है। इसी तरहसे यह ग्रन्थ रूप अंजलिमें वेदान्त विद्याका सार-सर्वस्व महामहोपाध्यायजीने उपलब्ध किया है और जनता-जनार्दनके प्रति उनकी यह श्रद्धांजलि है। मैं आशा रखता हूँ जनता भी उसको सादर मान देगी।

— न० वि० गाडगिल

राजभवन, चण्डीगढ़
१ मई १९६२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रम

१. भारतीय दर्शनका परिवेश	....	१
२. दर्शनोंका क्रम	....	७
३. चार्वाक दर्शन : प्रत्यक्ष प्रमाण	....	१६
४. बौद्ध दर्शन : क्षणिकवाद	....	२०
५. जैन दर्शन : अनेकान्तवाद	....	३०
६. वैशेषिक दर्शन : पदार्थ निरूपण	....	३५
७. सांख्य दर्शन : सत्कार्यवाद	....	३९
८. योग : ऋतम्भरा	....	४५
९. वेदान्त दर्शनका तत्त्वविचार	....	४९
१०. शब्दतत्त्वपर भारतीय दृष्टिकोण	....	५६
११. शांकर सिद्धान्त : आक्षेप और उत्तर	....	६५
१२. वाल्लभ दर्शनमें मायाका स्वरूप	....	७७
१३. गोस्वामीजीके दार्शनिक विचार	....	८१
१४. भक्तिकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	....	१४५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय दर्शनका परिवेश

अनेक प्राचीन शब्दोंकी तरह वर्तमान शब्द-प्रयोग-प्रवाहमें दर्शन शब्दने भी दूरकी तरंगोंमें परिभ्रमण किया है। परन्तु भारतीय वाङ्मयमें दर्शन शब्द कुछ विशेष अर्थ रखता है। यद्यपि शब्दार्थ और उसके समन्वयकी वहाँ भी एक सुन्दर कहानी ही है। 'दृश्' धातुमे 'ल्युट्' प्रत्यय होनेपर दर्शन शब्द निष्पन्न होता है। दृश् धातुका अर्थ यदि 'नेत्रोंको सहायतासे प्राप्त होनेवाला ज्ञान' किया जाये तो नेत्रोंसे देखी जानीवाली वस्तुके ज्ञान या उसके साधन नेत्रोंको दर्शन मानना होगा। यदि इस अर्थसे अभीष्टसिद्धि नहीं होती तो सभी इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानको या उनकी साधन-भूत इन्द्रियोंको 'दर्शन' कहना होगा।

इसलिए दृश्का अर्थ केवल नेत्रोंसे मिलनेवाला ज्ञान ही नहीं अपितु समस्त इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान माना जाये तो भी इस शब्दकी विशेष वाङ्मयके लिए जो प्रसिद्धि और व्यवहार है वह अनिश्चित ही रहेगा। आगे यदि हम इस 'दृश्' धातुके अर्थको थोड़ी और व्यापकता दें और इन्द्रिय-जन्य ज्ञानके स्थानपर सभी तरहके ज्ञान और उसके साधनों-को दर्शन मानें तो भी पूर्ण समन्वय नहीं दिखाई देता।

बात यह है कि दर्शन शब्दका व्यवहार केवल वाङ्मयके लिए होता है। परन्तु सभी तरहके ज्ञान-साधनको लेनेसे इन्द्रियोंमें भी दर्शन शब्दका व्यवहार जो शब्द-मर्यादासे प्राप्त हो रहा है उसको रोकनेका क्या उपाय होगा। प्रकरणके अनुसार यह शब्द अपने अर्थको प्रस्तुत करता है, यहाँ वाङ्मयके प्रसंगमें इसका अर्थ वाङ्मय रूप ही होगा, यह समाधान भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यद्यपि स्थूल ज्ञानसे तो मुक्ति दिला देता है परन्तु यह संशय फिर भी इसमें रह जता है कि पूरे वाङ्मयमें दर्शन शब्दका व्यवहार किया जाये या दर्शनको विशेष विषयोंमें सीमित किया जाये। पूरे वाङ्मयमें दर्शन शब्द-का व्यवहार विद्वानोंमें प्रचलित नहीं है अतः विशेष विषयोंके लिए ही इसका यदि व्यवहार किया जाये तो उस सीमाका भी समालोचन करना पड़ेगा। क्योंकि वाङ्मयके अनेक अंग हैं : वेद, वेदांग, पुराण, आयुर्वेद, साहित्य, ज्योतिष आदिको हम संस्कृत-वाङ्मयका अंग समझते हैं। इन सभीकी दर्शनके रूपमें प्रसिद्धि नहीं है।

यह भी एक प्रसिद्ध बात है कि दर्शनोंके छह विभाग हैं। यदि सभी विषयोंको दर्शन माना जाये तो दर्शन छह ही नहीं अनेकों होंगे। चौदह विद्याओंकी गणना तो प्रसिद्ध ही है, वे सभी दर्शनका विषय कैसे हो सकती हैं। इसलिए दर्शन शब्दका प्रयोग, आत्मा आदिका निरूपण करने-वाले शास्त्रोंमें विशेष रूपसे मानना होगा।

अब प्रश्न यह है कि दर्शन शब्दका यह अर्थ शब्दकी किस वृत्तिसे प्रकट होगा। कुछ विद्वान् यहाँ योगरूढलक्षणासे इस अर्थका प्रस्तुती-करण मानते हैं। उनका तर्क यह है कि दृश् धातु सामान्य ज्ञानका वाचक है, अभिधावृत्तिसे दृश्का अर्थ ज्ञान प्राप्त करना ही होगा। उस सामान्य ज्ञानको शब्द-ज्ञानमें सीमित करना और उसपर भी केवल आत्मादिका निरूपण करनेवाले ज्ञानके प्रतिपादक शास्त्रोंमें उस अर्थको संकुचित कर देना, यह काम योगरूढलक्षणासे ही सम्भव है।

कुछ विद्वानोंका कथन यह है कि धातुओंके अनेक अर्थ होनेके कारण यहाँ दर्शन शब्द 'मत'के अर्थमें है। कपिलका दर्शन और कपिलका मत एक ही बात है।

जैन विचारधाराके अनुसार किसी ज्ञानसे पहले उसका श्रद्धान या श्रद्धा उत्पन्न होती है उसीको वहाँ दर्शन कहा जाता है। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रमें सम्यक् ज्ञानसे पहले सम्यक् दर्शन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मोक्षके लिए आवश्यक माना गया है। जो व्यक्ति जैसी श्रद्धा रखता है उसीके अनुसार उसका ज्ञान हो जाता है। श्रद्धा-भेद ही ज्ञान-भेदका कारण है, श्रद्धा-भेदको ही दर्शन-भेद कहते हैं। तात्त्विक विषयोंके अन्वेषणमें विभिन्न श्रद्धासे प्रवृत्त होनेके कारण ही कपिल, गौतम आदिका दर्शन-भेद है। दर्शन शब्दके समन्वयकी यह भी एक दृष्टि है।

वस्तुतः दर्शन शब्दके मूलान्वेषणके लिए श्रुति वाक्यका अनुशीलन अधिक सन्तोषजनक है। श्रुति कहती है : "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः" – आत्माको देखना चाहिए, उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण है – "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥" – वेदवाक्योंसे सुनना, युक्तियोंसे उसका मनन करना, और मनन करनेके अनन्तर उसका निरन्तर ध्यान करना – ये दर्शनके कारण हैं। यहाँ श्रुति,युक्ति और ध्यान दर्शनके हेतु बतलाये गये। श्रुति यद्यपि तत्त्व-साक्षात्कार-रूप दर्शनकी प्रधान हेतु मानी गयी है, परन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें ही श्रुतिका उपयोग आचार्योंने स्वीकार किया है, आगे चलकर तो श्रुतिके आधारपर मनन और ध्यानका ही उपयोग विशेष होता है। वहाँ ध्यान तो क्रियाविशेष है, परन्तु युक्तियोंके आधारपर आत्मादि तत्त्वोंको अवगत करना दर्शनशास्त्रोंका विषय होता है।

कुछ ऐसे भी तत्त्व हैं जिनका साक्षात्कार नहीं होता, अपितु केवल शब्दोंके द्वारा ही उनका ज्ञान प्राप्त होता है। उन तत्त्वोंके प्रतिपादक शास्त्रोंको विद्या शब्दसे कहा जाता है। चतुर्दश विद्याओंमें दर्शनोंकी गणना नहीं होती और दर्शनोंमें विद्याओंका अन्तर्भाव नहीं होता। भारतीय दर्शनोंके छह विभाग प्रसिद्ध हैं। परन्तु वे छह कौन हैं, इस विषयमें कुछ मतभेद देखनेमें आता है। कपिलका सांख्य, पतंजलिका योग, कणाद-का वैशेषिक, गौतमका न्याय, जैमिनिका मीमांसा, और व्यासका वेदान्त – ये छह दर्शन हैं ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। इनमें-से योग, न्याय और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मीमांसाको अन्य विद्वान् दर्शन नहीं मानते। योगशास्त्रके प्रवर्तक पतंजलि-ने चितवृत्तिनिरोधके उपाय ही अपने शास्त्रोंमें बतलाये हैं, उस शास्त्रकी प्रवृत्ति तत्त्व साक्षात्कारके लिए नहीं है। दर्शन तो वही है जो युक्ति-पूर्वक आत्मादि तत्त्वोंका साक्षात्कार करानेके लिए प्रवृत्त होता हो। योगशास्त्रमें दार्शनिक विषय प्रसंगागत ही आये हैं। प्रधान रूपसे तो चितवृत्तिका निरोध, जो कि क्रियाविशेष है, उसीका प्रतिपादन योगशास्त्र-के रचयिताको अभीष्ट है। योग सभी दर्शनोंका उत्तरांग माना जाना चाहिए क्योंकि युक्तिपूर्वक तत्त्व-चिन्तनके अनन्तर जो निदिध्यासन या ध्यान है वही योगका विषय है। योगसूत्र और योगभाष्यमें जो दार्शनिक तत्त्वोंका विवेचन प्राप्त होता है वह सांख्यके दर्शनमें स्वीकृत तत्त्व ही हैं, अतः सांख्यमें ही योगकी गणना भी कर ली जाती है। इसीलिए कहा गया है –

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

अर्थात् सांख्य और योगकी अलग-अलग गणना दर्शनसे अनभिज्ञ (बालक) ही करते हैं विचारक नहीं।

इसी प्रकार न्यायकी गणना भी विद्यामें ही उपयुक्त है, दर्शनोंमें नहीं। आन्वीक्षिकी, तर्क या न्याय ये पर्याय शब्द हैं। किसी भी तत्त्वको वास्तविक रूपसे जान लेनेके लिए जो विचार विद्वानोंके द्वारा किया जाये, उसके प्रकार क्या होने चाहिए, उन प्रकारोंका विस्तृत प्रतिपादन ही न्यायशास्त्रका विषय है। यद्यपि सोलह प्रमेयोंकी गणनामें आत्मा आदिकी गणना भी न्यायशास्त्रमें की जाती है परन्तु प्रधानता वहाँ तर्कके नियमोंके प्रतिपादनकी ही है। इस बातको आचार्य वात्स्यायनने अपने न्यायभाष्यके प्रारम्भमें स्पष्ट कर दिया है। कोई भी तर्क किसी तत्त्वको आधार बनाकर ही प्रवृत्त हो सकता है अतः तर्कके आधारके लिए आत्मा आदि पदार्थोंका वहाँ उपयोग है न कि प्रधान रूपसे आत्मा आदि तत्त्वोंका प्रतिपादन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ अभीष्ट है। इसलिए न्यायको तर्कविद्या ही कहना अधिक उपयुक्त है।

आत्मा आदिका विचार युक्तिपुरस्सर प्रकाशित करनेवाले शास्त्रोंको ही दर्शन माननेपर जैमिनिकी मीमांसाको दर्शन कहना तो बिलकुल ही असंगत होगा। मीमांसामें कर्मकाण्डके निरूपण करनेवाले वेदवाक्योंके अर्थकी व्यवस्था ही की जाती है न कि आत्मादि तत्त्वोंका निरूपण। यदि वेदवाक्योंकी व्यवस्था करनेवाली मीमांसाको भी दर्शनोंकी श्रेणीमें गिना जाये तो शब्दोंको सिद्ध करनेवाले व्याकरणशास्त्रको भी दर्शन मानना पड़ेगा और इस प्रकार दर्शनोंकी गणनामें अव्यवस्था हो जायेगी। प्रसंगप्राप्त दर्शनके तत्त्वोंकी थोड़ी-बहुत चर्चा कर देने मात्रसे उस शास्त्रको दर्शन नहीं कहा जा सकता। अब यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि इस प्रकार तो दर्शन तीन ही रह गये, फिर छह दर्शनोंकी गणना कैसे पूर्ण होगी। उसका उत्तर है कि चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनोंको मिलाकर यह दर्शन-गणना दार्शनिकोंको मान्य रही है। आत्मा आदि तत्त्वोंका अथवा जगत्के मूल तत्त्वका निरूपण करनेके लिए ये सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टिसे युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।

कुछ लोगोंका यह कथन है कि मूल तत्त्वके निरूपक होनेपर भी ये सभी दर्शन नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सम्यक् दर्शन तो एक ही हो सकता है – किसी भी सद्वस्तुके स्वरूपमें अनेकताकी कल्पना असम्भव है। जो मूल तत्त्व है उसका स्वरूप निश्चित है। अनेक दर्शन यदि उसके अनेक भेदोंको प्रदर्शित करते हैं तो यही माना जायेगा कि या तो वे सभी भ्रान्त हैं, या फिर उनमें-से कोई एक सत्य है अन्य सभी असत् अर्थके प्रतिपादक हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह निर्धारित कर देना कि अमुक दर्शनका प्रतिपादन सम्यक् प्रतिपादन है और अन्य सभीका असम्यक् प्रतिपादन है, कठिन है। अपनी-अपनी प्रतिपादनकी प्रक्रियाको सभी दर्शनोंके विद्वान् सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। जिसकी बुद्धिमें जिस दर्शनकी बात जम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाये वह उसीका अनुगमन करने लगता है। आगे उस दर्शनकी प्रक्रियाको निस्सार समझ लेनेपर उस दर्शनके मार्गको छोड़कर दूसरे दर्शनके विचारोंके अनुसार विचार बनानेकी भी दर्शनके क्षेत्रमें पूरी स्वतन्त्रता है। हमारा तो यह दृढ़ विचार है कि सभी दर्शन मूलतत्त्वके विषयमें विभिन्न मतोंका प्रतिपादन नहीं करते अपितु अपने-अपने अधिकारियोंको दृष्टिमें रखकर उनकी बुद्धिमें संसारके मूलतत्त्वको जमा देनेके लिए स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होते हैं। लक्ष्य तो सभीका एक ही है। यही कारण है कि सामान्य धर्मोंके प्रति सभीका दृष्टिकोण एक ही है। आचरण आदिमें भी सभी सदाचरणके समर्थक हैं। अपने अन्य दार्शनिक निबन्धोंमें हमने जगत्-के मूलतत्त्वके प्रतिपादनमें दर्शनोंके अविरोधका समर्थन किया है।

दर्शनोंकी यह गणना प्राचीन भारतीय दर्शनोंकी ही गणना है। वर्तमानमें अनेक वैदेशिक विचारकोंने अनेक नवीन मतोंका आविष्कार किया है। दर्शनोंके रूपमें उनकी भी प्रसिद्धि आधुनिक समयमें हो चुकी है। परन्तु उन सभीको हम मत या वाद कहना ही अधिक उपयुक्त मानते हैं, क्योंकि उनमें जगत्के मूलतत्त्वके प्रतिपादनकी अपेक्षा सामाजिक व्य-वस्थाका प्रतिपादन ही मुख्य है। अन्तिम तत्त्वके विषयमें आधुनिक दर्शनों-में जिन विचारोंका प्रतिपादन है वह प्रसंगागत ही है। ऐसे किसी तत्त्वका विवेचन जो कि भारतीय दर्शनोंमें न हुआ हो वहाँ मिलना कठिन है। प्रतिपादनकी शैलीमें भेद सम्भव है, वक्तव्य अंशमें नहीं। इस प्रकार भारतीय दर्शनोंकी क्षेत्रसीमामें चार्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तका प्रमुख स्थान है और भारतीय दर्शनोंके क्षेत्रमें संसारके मूलतत्त्वकी किसी विचारधाराको नहीं छोड़ा गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शनोंका क्रम

भारतीय दर्शन बहुत महत्त्वकी वस्तु हैं, इस बातको सभी स्वीकार करते हैं। आज विद्याओंके प्रसार-प्रधान युगमें भी दर्शनोंके कारण भारत-का आदर समस्त संसार करता है। इतना ही नहीं, आज भी विद्या-जगत्-में यदि भारतीयोंका सिर ऊँचा है तो उसका कारण दर्शनशास्त्र ही है। वे दर्शन छह हैं, यह बात भी बहुत पुराने समयसे प्रसिद्ध है। सामान्यतया देखनेपर यही बड़ी त्रुटि प्रतीत होती है कि छहों दर्शन परस्पर बहुत विरुद्ध हैं। एक-दूसरेका खण्डन-मण्डन भी उनमें बहुत विस्तृत रूपमें दिखाई देता है। अब किसकी बात मानी जाये? यही दोष दर्शनोंके सिरपर विदेशी विद्वानोंने मढ़ा है। परन्तु हम इस छोटे-से लेखमें यह दिखानेका प्रयत्न करेंगे कि दर्शनोंमें परस्पर विरोध नहीं, अपितु ज्ञानका एक क्रम है।

दर्शन शब्दका अर्थ है, देखना वा देखनेके साधन। इसका मूल 'दृश्' धातु (क्रिया) आरम्भमें चाक्षुष ज्ञानके लिए व्यवहारमें आया था। किन्तु आगे चाक्षुष ज्ञानके समान ही जो विस्पष्ट ज्ञान हो उस अर्थमें भी प्रयुक्त होने लगा। धीरे-धीरे ज्ञान सामान्यके अर्थमें भी आ गया। इसलिए अब दर्शन शब्दसे तीनों प्रकारके अर्थ लिये जा सकते हैं: चाक्षुष ज्ञान तथा उसके साधन, विस्पष्ट ज्ञान तथा उसके साधन, और सामान्य ज्ञान तथा उसके साधन। किसी गम्भीर वस्तुके ज्ञानसे पूर्व एक प्रकारका मनन वा विचार आवश्यक होता है। इसलिए विचार, मत वा मनकी प्राथमिक प्रवृत्तिको भी दर्शन शब्दसे कई जगह व्यक्त किया गया है। यों तो सब ही शास्त्र ज्ञानके साधन हैं। यदि किसी प्रकारका ज्ञान न दे तो फिर वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्र ही क्या ? इस विचारसे सभी शास्त्रोंका सामान्य नाम 'दर्शन' होना चाहिए; किन्तु आत्मा, ईश्वर आदि अति गूढ़ तत्त्वोंके ज्ञान वा उसके साधनमें ही 'दर्शन' शब्द निरूढ़ हो गया है। इसका कारण है कि श्रुतियों-में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि रूपसे आत्माके दर्शनका विधान पाया जाता है। आत्माका इन्द्रियों-द्वारा प्रत्यक्ष तो कभी हो ही नहीं सकता, तब यहाँ 'दर्शन' शब्दका अर्थ विस्पष्ट ज्ञान ही मानना पड़ता है। उस विस्पष्ट ज्ञानके साधन श्रुतिमें ही तीन बतलाये गये हैं – 'श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः।' इस श्रुतिका विवरण आचार्योंने इस प्रकार किया है –

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

अर्थात् पहले श्रुतिके वाक्योंसे वाक्यार्थ विचार कर आत्मा आदि तत्त्वोंका श्रवण करना, फिर उन तत्त्वोंपर अपने मानसिक बलके अनुसार युक्तिपूर्वक मनन या विचार करना और युक्तियोंसे जब वह सुनी हुई बात मनमें जम जाये तो उसका निरन्तर ध्यान करना अर्थात् चित्तवृत्तिको निरन्तर उसी ओर लगाना। इन साधनोंसे दर्शन अर्थात् विस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। फिर उस ज्ञानको कोई डिगा नहीं सकता। जैसे प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुमें किसी प्रकारका सन्देह वा भ्रम हमें कभी नहीं होता, इसी तरह असन्दिग्ध और अभ्रान्त ज्ञान जब आत्मा वा ईश्वरका हो जाये तो उसे दर्शनके समान ही मानकर वहाँ प्रत्यक्ष वा दर्शन शब्दका ही व्यवहार करते हैं और उसके साधनोंको भी दर्शन शब्दकी संज्ञा देते हैं। पाश्चात्य विद्याओंमें विज्ञान और दर्शन, साएन्स और फ़िलॉसफ़ी, पृथक्-पृथक् विद्या मानी जाती हैं। जिन विषयोंको हम प्रयोगमें भी ला सकें, जिनके सम्बन्ध-में किसी प्रकारके सन्देहका स्थान न रहे, जो सिद्धान्त अकाट्य हों, उन्हें विज्ञान वा साएन्सकी श्रेणीमें लिया जाता है। जो केवल मानसिक कल्प-नाएँ हों, प्रयोगमें न लायी जा सकें, उन्हें दर्शन या फ़िलॉसफ़ी कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु प्राचीन भारतमें इस प्रकारका भेद नहीं था। हम दर्शन विषयको भी समाधिके द्वारा प्रयोगमें लाते थे, और उसका भी असन्दिग्ध-अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त करके ही अपनेको कृतकृत्य मानते थे। इसलिए हमारे यहाँ विज्ञान और दर्शनका एक ही अर्थ है। हम आत्मा, ईश्वर आदि विषयोंका विचार भी केवल अटकल रूपमें नहीं करते, अपितु पूर्ण मनन कर समाधि-द्वारा उनका साक्षात्कार भी करते थे। यही दर्शन शब्दकी प्रवृत्तिका मूल है।

दर्शन वा साक्षात्कारके उक्त तीनों साधनोंमें निदिध्यासन वा समाधि तो केवल मनका व्यापार है। वह वाणी-द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। हाँ, उसके साधनोंका क्रम योगदर्शनमें अवश्य बताया गया है। किन्तु वह सब क्रियासे सम्बन्ध रखता है, वाग् (वाणी) व्यापार मात्रसे नहीं। श्रवण, मनन, इन दोनोंमें मनन अर्थात् युक्तिपूर्वक गूढ़ विषयोंको सोचना साक्षात्कार अर्थात् विस्पष्ट ज्ञानके लिए अधिक उपयोगी होता है। इस कारण आत्मा आदि तत्त्वोंपर मनन अर्थात् उनपर युक्ति प्रधान विचार करनेवाले शास्त्रोंका ही नाम दर्शन पड़ा है।

अति सूक्ष्म तत्त्वमें सहसा बुद्धि प्रविष्ट नहीं हो सकती। इसलिए क्रमसे उस ओर बुद्धिको धीरे-धीरे प्रविष्ट कराया जाता है। संस्कृतमें इसे 'स्थूलारुन्धती न्याय' वा 'शाखाचन्द्रन्याय' कहते हैं। विवाहके समय वधूको अरुन्धतीका दर्शन कराना विहित है। महर्षि वसिष्ठकी धर्मपत्नी अरुन्धती आदर्श पतिव्रता थी। उसका जिस तारासे सम्बन्ध माना जाता है उस ताराका दर्शन करनेसे पतिव्रतका भाव हृदयमें जागृत होता है। ऐसे विश्वाससे यह विधान रखा गया है। किन्तु अरुन्धती एक बहुत छोटा तारा है। उसपर सहसा दृष्टि नहीं ले जायी जा सकती। इसलिए पहले वधूको बहुत बड़ा ध्रुवतारा दिखाते हैं। फिर उसके चारों ओर घूमनेवाले सप्तऋषि नामके सात तारोंपर उसकी दृष्टि जमाते हैं। उन सात तारोंमें तिर्यक् रूपसे अवस्थित तीन तारोंके मध्य भागमें वसिष्ठपर दृष्टि जमाकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके समीप अवस्थित छोटे तारे अरुन्धतीको दिखा देते हैं। यही 'स्थूला-रुन्धती न्याय' का आशय है।

दूसरा दृष्टान्त यह दिया जाता है कि द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन करना हिन्दू-जातिके पुराने लोग आवश्यक मानते हैं। किन्तु उसकी कला बहुत छोटी है। दुर्बल दृष्टिवालोंकी दृष्टि उसे सहसा नहीं पकड़ सकती। इसलिए जो लोग पहले उस चन्द्रमाको देख चुके हैं वे दुर्बल दृष्टिवालोंसे कहते हैं : देखो उस सामनेवाले वृक्षकी उधरकी शाखापर निगाह जमाओ। उसकी सीधमें छोटी-सी चन्द्रमाकी लकीर तुम्हें दिखाई देगी। यहाँ उस वृक्षकी शाखाको देखनेका कोई प्रयोजन नहीं होता, किन्तु चन्द्रमापर दृष्टि ले जानेके लिए उसका अवलम्ब किया जाता है। इसे ही 'शाखाचन्द्रन्याय' कहते हैं। दोनोंका तात्पर्य यही है कि पहले स्थूल पदार्थको पकड़ते हुए क्रमसे सूक्ष्मकी ओर जाना, अथवा यों कहें कि सीढ़ी-सीढ़ी चढ़कर छतपर पहुँचना। सीढ़ियोंका अनादर कर छलाँग मारनेवाला व्यक्ति सम्भवतः नीचे ही गिरेगा। बस, इसी न्यायसे दर्शनशास्त्रोंने क्रमसे सूक्ष्म तत्त्वमें प्रवेश कराया है। वेदान्तमें इसे 'अध्यारोपापवाद' नामसे भी कहा गया है अर्थात् एक-एक जगह आरोप रूपसे पहले आत्म-रूपताका ग्रहण कर फिर वहाँ उसका निषेध करते जाना, और अन्तमें मुख्य तत्त्वपर पहुँचकर विश्राम लेना।

छह दर्शनोंकी गणना कई प्रकारसे की जाती है। किन्तु इस क्रममें चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त इस प्रकारकी गणना-का विशेष उपयोग है। न्याय सब दर्शनोंका पूर्वांग है। उसमें तर्क करने-की पद्धति बतायी जाती है, और योग सब दर्शनोंका उत्तरांग। उसमें मननके अनन्तर निदिध्यासन अर्थात् चित्तकी समाधिका प्रकार बताया जाता है। इसलिए इन दोनोंको क्रमिक श्रेणीमें गिनना उचित नहीं होता। इसी प्रकार पूर्वमीमांसा वाक्यार्थ निश्चित करनेकी प्रक्रिया बताती है। उसका श्रवणमें ही उपयोग है। मननका विषय उसमें प्रासंगिक बहुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अल्प आता है। इसलिए मनन-प्रधान दर्शनोंकी श्रेणीमें उसको भी स्थान देना उपयुक्त नहीं होता। हाँ, उत्तरमीमांसामें दोनों विषय प्रधान हैं। वह उपनिषदोंके वाक्यार्थकी प्रक्रिया भी बताती है और आत्मा आदि तत्त्वोंपर युक्तिपूर्वक मनन भी कराती है। इसलिए उसे वेदान्त नामसे दर्शनोंकी श्रेणीमें अन्तिम स्थान दिया जाता है। वहाँ जाकर विचारकी समाप्ति हो जाती है। उससे आगे विचारका कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए उसे 'वेदान्त' कहते हैं – वेद अर्थात् ज्ञानका अन्त अर्थात् पर्यवसान, जहाँसे आगे ज्ञानकी सीमा न बढ़ सके। इसी बातको भगवान्‌ने भगवद्गीतामें कहा है –

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

जिसको जानकर आगे कोई जाननेकी वस्तु ही नहीं बचती।

अच्छा तो अब इसका क्रम देखिए। पहले दर्शन चार्वाकको 'लोकायत' कहते हैं। लोकप्रचलित विचारोंको ही यह दर्शनका रूप दे देता है। जन-साधारण शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं। इससे अतिरिक्त कोई आत्मा उनके विचारमें नहीं आता। इसलिए चार्वाक भी शरीरात्मवादी हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सर्वसाधारण लोग अपने व्यवहारमें स्त्री-पुत्र बल्कि धन-सम्पत्ति आदिको भी अपने स्वरूपके अन्तर्गत मान लेते हैं। इसीलिए इनकी विपत्ति वा इनका ह्रास होनेपर अपनी ही विपत्ति वा ह्रास मानते हैं। उन सबपर-से आत्मभावको चार्वाक हटा देता है। इतना आत्म पदार्थका संकोच वह भी करता है। सब प्रकारके व्यवहारके निर्वाहक और अहं (मैं) पदका वाच्यार्थ शरीर ही रहता है। यही शरीरको आत्मा माननेकी युक्ति है। ज्ञानके साधन इन्द्रियोंको आत्मा कहना वा शरीरके परिचालक प्राणको आत्मा कहना, ये सब चार्वाक दर्शनके ही अवान्तर भेद हैं। इससे आगे बौद्ध कुछ सूक्ष्मताकी ओर बढ़ते हैं। वे कहते हैं कि यदि शरीर ही आत्मा हो तो जड़ चेतनका विभाग ही संसारसे उठ जाये। क्योंकि जिन पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे बाहरके पदार्थ बनते हैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनसे ही शरीर भी बनता है, फिर बाहरके पत्थर-मिट्टी आदिसे हममें भेद ही क्या रहा। भेद इतना ही बताना होता है कि हमको ज्ञान है, मिट्टी-पत्थर आदिको ज्ञान नहीं; इसलिए जड़ और चेतनके भेदक ज्ञानको ही आत्मा कहना चाहिए, शरीर-मात्रको नहीं। ज्ञान क्षण-क्षणमें बदलता रहता है। हमें कभी वृक्षका ज्ञान होता है, कभी मनुष्यका, कभी कुत्तेका, कभी मिट्टी, और पत्थरका। इसलिए आत्माको भी क्षणिक ही मानना चाहिए, स्थिर नहीं। क्षणिक होनेपर भी उसकी एक धारा है, इसलिए चेतनता विलुप्त नहीं हो पाती। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें हमारे सामनेका जल प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस क्षणमें जो जल हमारे सामने है वह दूसरे क्षणमें नहीं रहेगा, किन्तु कोई जल दूसरे क्षणोंमें भी हमारे सामने रहेगा। यों प्रतिक्षण बदलता हुआ भी कोई-न-कोई जल हमारे सामने बना ही रहता है। इसीको 'प्रवाहनित्यता' कहते हैं। इसी तरह आत्माको भी प्रवाहनित्य समझना। यों इस दर्शनमें आत्माको शरीरसे भिन्न बता दिया, किन्तु उसे भी अनित्य रखा।

इससे आगे जैन दर्शनकी पारी आयी। वह कहता है कि यों प्रतिक्षण ज्ञान बदलता जाये तो कल या परसों देखी हुई वस्तुका हमें स्मरण कैसे हो। जिसने देखा वह तो रहा नहीं, अब याद कौन करे। इसलिए आत्माको स्थिर भी मानना चाहिए और बदलता हुआ भी। वह नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य रूपसे नित्य है और पर्याय वा अवस्था रूपसे अनित्य भी है। इस प्रकार कुछ स्थिरताकी ओर झुकाकर 'स्याद्वाद' जैनदर्शनने स्थापित किया। यहाँ आत्मा शरीरसे अतिरिक्त भी हुआ और एक प्रकार स्थिर या नित्य भी।

इसके आगे वैशेषिक दर्शन आता है जिसके आचार्य कणाद हैं। इसे न्यायके नामसे भी कहते हैं। वह कहता है कि एक ही वस्तु नित्य और अनित्य, स्थिर और बदलनेवाली दोनों प्रकारकी हो – यह समझमें नहीं आता। यदि नित्य है तो अनित्य कैसे, और अनित्य है तो नित्य कैसे ?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसलिए स्थिर और बदलनेवाली दोनों वस्तुओंको भिन्न-भिन्न मानना चाहिए। आत्मा स्थिर वा नित्य है, और बदलनेवाले ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि उसके गुण हैं। गुण बदलते रहते हैं, किन्तु आत्मा सदा स्थिर, एक और नित्य है। गुणोंके बदलनेसे उसकी नित्यतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। जैसे किसी एक कपड़ेको कभी हमने पीला रँग दिया, कभी धोकर साफ़ कर लिया, फिर लाल रंगसे रँग डाला, फिर सफ़ेद बना लिया। इस प्रकार पीत, रक्त, श्वेत आदि गुण उसके बदलते गये किन्तु कपड़ा वही रहा। इसी तरह ज्ञान, इच्छा, सुख आदि गुणोंके बदलते रहनेपर भी आत्मा एक है, वह सब गुणोंका आश्रय है। धर्मोंका परिवर्तन होता है, आश्रयभूत धर्मीका नहीं। यों इसने आत्माकी नित्यताको प्रतिष्ठित कर दिया। और शरीर, इन्द्रिय वा मनसे भी आत्माको पृथक् बता दिया। मन-इन्द्रिय आदि उसके कारण मान लिये, किन्तु इन कारणोंके द्वारा कर्तृत्व आत्मापर ही इन्होंने भी माना।

अब सांख्य दर्शन आगे आता है। यह कहता है कि जिसमें कर्तृत्व होगा वह क्रियाका आधार भी बनेगा। और जिसपर क्रिया होगी वा जिसमें गुण बदलते रहेंगे वह कुछ काल तक भले ही स्थायी दिखाई देता रहे, किन्तु नित्य वह कभी नहीं हो सकता। परिवर्तनशीलका विनाश अवश्यम्भावी है, चाहे एक दिनमें हो या हज़ार वर्षमें। ऐसा ही संसारके पदार्थोंमें सब जगह देखा है कि बदलनेवाला कभी नित्य नहीं होता। आत्माका कभी भी विनाश मान लिया जाये, तो अनादि आवागमन चक्रकी उत्पत्ति नहीं बैठती। इसलिए मूलतः दो पृथक्-पृथक् ही तत्त्व मानने चाहिए। एक बदलनेवाला और एक सदा स्थायी रहनेवाला। पहलेका नाम प्रकृति है, दूसरेका पुरुष। जितना भी कर्तृत्व है, अथवा ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि गुण हैं, वे सब प्रकृतिमें हैं। पुरुष तो कमलके पत्तेकी तरह सदा बेलाग रहता है। किन्तु चेतन वही है, उसको चेतनताके प्रतिबिम्बसे ही प्रकृति सब-कुछ करती रहती है। वह पुरुष सन्निधान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(समीपता) मात्रसे प्रकृतिका उपकारक है। उसे चैतन्य दे देता है, किन्तु उसके स्वरूपमें कभी भी कोई विकार नहीं होता। जैसे जलपर सूर्यका प्रतिबिम्ब गिरनेसे जल चमक उठा, उस चमकके कारण वह भी बाह्य दृष्टिसे चमकदार-सा प्रतीत होता है और इधर-उधर अपना प्रकाश भी दिखाने लगा। जलके प्रकम्पित होनेपर जलका सूर्य भी प्रकम्पित होता हुआ दीख पड़ेगा, किन्तु बिम्बभूत असली सूर्यपर इस प्रकम्पनका कोई प्रभाव नहीं। इस प्रकार प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ज्ञान सुख आदिका आश्रय प्रतीत होता है, किन्तु मुख्य चेतन पुरुषमें इन धर्मोंका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जबतक वह प्रकृतिके साथ है तबतक संसारी प्रतीत होता है। प्रकृतिको छोड़ते ही वह नित्य मुक्त है। इस प्रकार आत्माकी सर्वरूप-से नित्यता और निःसंगता सांख्यने सिद्ध कर दी। किन्तु प्रकृतिको उससे पृथक् ही माना और प्रकृतिके धर्मोंका आरोप पुरुषपर किसी रूपमें, अनुभवके अनुरोधसे, मानना ही पड़ा।

अब अन्तिम दर्शन वेदान्त उपस्थित होता है। वह कहता है, आत्मासे भिन्न स्वतन्त्र प्रकृति कोई वस्तु नहीं। सम्पूर्ण जगत्का एक ही मूल है, दो नहीं। आत्मा एक निर्धर्मक और निर्विशेष तत्त्व है। उसपर अनादि संस्कारवश भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको हमने लाद रखा है। जैसे एक वस्तु – सुवर्णको लीजिए। वह कभी आपको एक गोल डलीके रूपमें, कभी चिपटे रूपमें, कभी लम्बे कड़ेके रूपमें, कभी गोल कुण्डलके रूपमें, कभी प्रलम्ब हारके रूपमें मिलेगा। ये सब सुवर्णकी अवस्थाएँ हैं। किन्तु जिसकी यह अवस्थाएँ हैं वह सुवर्ण क्या है? इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। सुवर्णको जब कभी आप देखेंगे, तब किसी-न-किसी अवस्थामें ही पायेंगे। सब अवस्थाओंसे पृथक् कर सुवर्णको आप कभी ध्यानमें भी नहीं ला सकते, किन्तु यह मानना ही पड़ता है कि सुवर्ण कोई एक तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें मिलता है। एक धनी सद्गृहस्थने किसी बड़े चतुर सुनारसे बड़ा सुन्दर हार सुवर्णका बनवाया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसमें उसने सोनेसे उसकी गढ़ाई भारीकी कहावतको चरितार्थ कर दिया। सोनेसे भी अधिक द्रव्य जड़ाई ओर गढ़ाईमें खर्च कर डाला। किन्तु दुर्दैववश वह कभी कंगाल हो गया और अपने उस आभूषणको बेचनेके लिए किसी सर्राफ़की दुकानपर ले गया। वहाँ उसने कुल खर्च बतलाया जो आभूषणकी तैयारीमें लगा था। सर्राफ़ने कहा, "बाबूजी, गढ़ाईकी बात तो जाने दीजिए, असली सोनेका दाम ले लीजिए।" इससे सिद्ध होता है कि व्यवहारमें भी साधारण लोग असली वस्तु मूलतत्त्वको ही मानते हैं, ऊपरकी अवस्थाओंको झूठा – कल्पित समझते हैं। इसी प्रकार मनन करते जाओ तो इस परिणामपर पहुँच सकोगे कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि सब ऊपरसे लादी हुई अवस्थाएँ हैं, मूलतत्त्व एक ही है। जो सब जगत्का मूलतत्त्व है, उसमें और हमारे शरीर-इन्द्रिय आदिको चलाने-वाले मूलतत्त्वमें भी कोई अन्तर नहीं हो सकता। क्योंकि निर्धर्मक वस्तुमें अन्तर वा भेद कहें ही किस आधारपर? अन्तर तो अवस्थाओंमें ही दिखाई देता है। सब अवस्थाओंसे परे रहनेवाले मूलतत्त्वमें भेद आया ही कहाँसे? बस, इसीलिए "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अथवा "अयमात्मा ब्रह्म" – यह सब-कुछ ब्रह्म ही है। हम जिसे आत्मा कहते हैं, वही ब्रह्म है। कर्तृत्व वा गुण अनादि संस्कारवश आरोपित मात्र है। असली तत्त्व-को समझकर इन आरोपित धर्मोंको पूरी तरह निःसार वा मिथ्या समझ लेना ही कृतकृत्यता है। बस, यहीं ज्ञानकी समाप्ति है।

अब विचारशील विद्वान् पाठक देखेंगे कि दर्शनोंने किस प्रकार स्थूलतासे उठाकर अत्यन्त गहन सूक्ष्म तत्त्वमें हमें पहुँचा दिया। इन दर्शनोंने केवल सीढ़ीका काम किया, परस्पर विरोध वा झगड़ेकी इसमें कोई बात ही नहीं। यों शनैः-शनैः सूक्ष्मतत्त्वको बुद्धिमें जमा देना ही भारतीय दर्शनशास्त्रोंकी विशेषता है। और ये क्रमसे ज्ञानमार्गमें बढ़ाने-वाले हैं, विरोध सिखानेवाले नहीं।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चार्वाक दर्शन : प्रत्यक्ष प्रमाण

चार्वाक दर्शनको लोकायत-दर्शन भी कहा जाता है। लोकायत शब्द-का अर्थ है लोकमें आयत अर्थात् प्रसिद्ध। इसका तात्पर्य है कि सर्वसाधारण अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता जैसे विचार रखती है वे ही विचार इस दर्शनमें लिखे गये हैं। इस दर्शनका सुलिखित क्रमबद्ध ग्रन्थ कोई नहीं मिलता। इधर-उधरके लोकमें प्रसिद्ध कुछ पद्योंके आधारपर ही 'सर्व-दर्शन-संग्रह' नामक पुस्तकमें इस दर्शनका मत सर्वप्रथम लिखा गया है।[1] स्वर्गीय श्री गंगाधर शास्त्रीजीने भी अपने 'अलि-विलासि-संलाप' नामके दार्शनिक काव्यमें चार्वाकको सब दार्शनिकोंमें प्रथम बतलाया है। इसका आचार्य बृहस्पतिको कहा जाता है। पुराणोंमें ऐसी कथा मिलती है कि असुर लोग जब देवताओंसे अति प्रबल हो गये तो देवगुरु बृहस्पति प्रच्छन्न वेशसे दैत्योंके गुरु शुक्राचार्यके यहाँ जाकर उनके शिष्य बन गये और उनका ही मत बतलाकर इस दर्शनकी बातोंका असुरोंमें प्रचार करने लगे। इससे असुर लोगोंमें नास्तिकवाद फैल गया और इसी कारण वे परास्त हो गये।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब इसमें अशिक्षितप्राय लोगों-में प्रसिद्ध ही बातें कही गयी हैं तो फिर इसे दर्शनोंकी श्रेणीमें क्यों गिना गया? दर्शन शब्दमें तो उन्हीं शास्त्रोंको गिना जाता है जो क्रमसे आत्म-

---

१. कुछ दिनों पहले 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामका एक ग्रन्थ चार्वाक दर्शनके ग्रन्थके रूपमें प्रकाशमें आया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्वको समझाते हों। इसका उत्तर है कि यह शास्त्र भी आत्माको समझानेकी पहली सीढ़ी है। सर्वसाधारण जनता अपने स्त्री, पुत्र, घनिष्ठ मित्र आदिको भी अपना आत्मा ही समझती है। उनके दुःखित होनेपर अपने-आपको दुःखी और उनके सुखी होनेपर अपने-आपको भी सुखी मानती है। उनके विचारोंमें यह शास्त्र भी संकोच कराता है और अपने शरीरको ही आत्मा सिद्ध करता है। इसीलिए यह दर्शनोंकी पहली सीढ़ी है कि जो स्त्री, पुत्र, मित्र आदिमें फैले हुए आत्माको संकुचित कर शरीर मात्रपर ही प्रतिष्ठित कर देता है। आगेके दार्शनिक क्रमसे स्थूल-शरीरको भी आत्माकी सीमासे निकालकर क्रमसे सूक्ष्म-शरीर, कारण-शरीर आदिमें आत्म-शब्दको ले जाते हुए अन्तमें जाकर सब शरीरोंसे भिन्न एक विशुद्ध आत्मा तक पहुँचा देते हैं जो कि मुख्य आत्मा और व्यापक तत्त्व माना जाता है। इस चार्वाक-दर्शनने यह भी कार्य किया है कि जो साधारण जनता दर्शनोंके नामसे ही घबराती थी उसे भी उनके अनुकूल ही बातें बतलाकर दर्शन-शास्त्रकी ओर प्रवृत्त कर दिया। इस कारण भी यह प्रथम दर्शन कहलानेका अधिकारी हुआ।

चार्वाक-दर्शनमें प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण माना जाता है। अनुमान, शब्द आदिको वहाँ प्रमाण-कोटिमें नहीं गिना जाता। इस बातके आधार-पर आगेके दर्शनोंमें इनकी बड़ी हँसी उड़ायी गयी है कि जब अपने घरका कोई आदमी भी विदेश चला गया हो और प्रत्यक्ष दिखलाई न दे तब उसे भी चार्वाक-दर्शनके अनुयायी मरा हुआ क्यों नहीं मान लेते? उसकी सत्ता वे किस आधारपर मानेंगे? 'संस्कृत-रत्नाकर' नामक मासिक-पत्रके दर्शन-विशेषांकमें स्वर्गीय परम विद्वान् श्री दामोदरलालजी गोस्वामीने चार्वाकके प्रत्यक्ष प्रमाणका आशय समझाया है कि सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष-को सबसे उच्चकोटिका परम प्रमाण तो कहते ही हैं, और अनुमान आदि-से हम जिन विषयोंको समझते हैं उनका भी कभी-न-कभी प्रत्यक्ष होता ही है, इसलिए चार्वाक उन सबको प्रत्यक्ष-प्रमाणका ही विषय मान लेता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। हाँ, जिन परलोक-देवता आदिका प्रत्यक्ष सांसारिक मनुष्योंको कभी नहीं होता उन्हें वह नहीं मानता। यही उसके प्रत्यक्षमात्रको प्रमाण कहनेका तात्पर्य है। जो अपना कोई गृहजन विदेश चला गया है वह तो आगे या पीछे कभी-न-कभी प्रत्यक्षसे जाना ही जावेगा, इसलिए ऐसी शंकाएँ उसपर उठाकर उसे सर्वथा अनभिज्ञ प्रमाणित करना दूसरे दार्शनिकोंकी एक हठधर्मी ही कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष-मात्रको प्रमाण कहनेका एक बहुत गम्भीर आशय भी बतलाया जा सकता है। वेदान्त ग्रन्थ 'वेदान्त-परिभाषा' में प्रत्यक्ष-प्रमाणका बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है। उन्होंने प्रत्यक्ष दो प्रकारके माने हैं। हम व्यवहारमें ज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहा करते हैं और उस ज्ञानसे जो विषय जाना जावे उसे भी प्रत्यक्ष ही कहते हैं। इन्हीं दोनोंका नाम वहाँ रखा गया है – ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व और विषयगत प्रत्यक्षत्व। इनमें ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वको वहाँ व्यापक सिद्ध किया गया है। उसका आशय इस प्रकार खोला है कि अनुमान आदि प्रमाणोंसे हमें जो ज्ञान होता है वह भी एक प्रकारकी मनकी वृत्ति ही है। और मनकी सब ही वृत्तियाँ सदा ही प्रत्यक्ष रहती हैं–इस विचारके अनुसार हम ज्ञान-मात्र-को ही प्रत्यक्ष कह सकते हैं। इसी कारणसे उन्होंने स्पष्ट लिख दिया कि ज्ञानगत प्रत्यक्षको चित् रूप ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त वहाँ विस्तारसे यह भी सिद्ध किया गया है कि इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहना उचित नहीं है। कभी शब्दसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। जैसे कि कोई दस मित्र मिलकर किसी दूसरे नगरको जा रहे थे। मार्गमें एक नदी पड़ती थी। उस नदीको सब लोगोंने तैरकर पार किया। फिर वे अपनी गिनती करने लगे कि हममें-से कोई बह तो नहीं गया है। अब जो मनुष्य गिनती करने लगता वही अपने-आपको नहीं गिनता। यों सबकी गिनतीमें नौ ही मनुष्य आते रहे। तब वे लोग बड़ा शोक करने लगे कि हममें-से कोई एक आदमी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बह गया, हम दस चले थे और नौ ही शेष रह गये। इस प्रकार उनको रोता-कलपता देखकर किसी बाहरके आदमीने आकर पूछा कि भाई, तुम क्यों रो रहे हो ? इसपर इन्होंने उत्तर दिया कि हम दस मित्र घरसे चले थे, हमारा एक साथी नदीमें बह गया, अब हम नौ ही शेष रह गये हैं। उस मनुष्यने देखकर कहा कि भाई, तुम तो दसके दस पूरे हो, वृथा ही क्यों रोते हो ? तब उनमें-से एक आदमी गिनने लगा और पूर्ववत् नौको ही गिनकर कहने लगा कि नौ ही तो हैं। तब उसने कहा कि अरे भाई, नौ तो तुमने गिन ही लिये, दसवें तुम हो। – दशमस्त्वमसि ! तब वे सब शान्त हो गये कि हम दसके दस हैं। यहाँ 'दशमस्त्वमसि' – इस वाक्यसे जो अपना ज्ञान हुआ वह यद्यपि शब्दसे हुआ है किन्तु इसे परोक्ष-ज्ञान कोई नहीं कहेगा। वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहलावेगा। इसी प्रकार आत्माका ही जहाँ अनुमान किया जावे वहाँ अनुमानसे उत्पन्न ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही होता है। इसी दृष्टान्तके आधारपर वेदान्तके 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे मनन, निदिध्यासन आदिके अनन्तर जो ज्ञान होता है उसे वेदान्त-दर्शनमें प्रत्यक्ष-ज्ञान ही कहा जाता है। इस प्रकार व्यापक प्रत्यक्ष मान लेनेपर तो चार्वाक-दर्शनपर कोई दोष ही नहीं दिया जा सकता। सब ही ज्ञान प्रत्यक्ष रूप ही हो जाते हैं। सम्भव है कि देवगुरु बृहस्पतिने इसी आशयसे केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण कहा हो और आगेके लोग उनका गम्भीर आशय न समझकर उस दर्शनकी छीछालेदर करने लगे हों।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध दर्शन : क्षणिकवाद

शास्त्रोंमें सुप्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्धदेवने यह समस्त जगत् किस प्रकारका है इसके निरूपणके लिए अपने शिष्योंको चार सूत्र बताये थे : "शून्यं शून्यम्, क्षणिकं क्षणिकम्, दुःखं दुःखम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्"। इनमें-से प्रथम सूत्रके शून्यवादपर शिष्योंमें मतभेद हुआ। किन्तु शेष तीनको सबने ही माना। इनमें-से द्वितीय सूत्रमें कहे गये क्षणिकवादपर ही यहाँ कुछ विचार करना है।

इस सूत्रका अभिप्राय है कि संसारके सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं और प्रतिक्षण नये-नये पैदा होते रहते हैं। यद्यपि हम लोग किसी एक ही वस्तुको कई दिन, कई महीने या कई वर्षों तक एक रूपमें स्थिर देखते हैं तथापि यह हम लोगोंकी भ्रान्ति है। वर्षों तक एक रूप दीखने-वाली वस्तु भी प्रतिक्षण बदलती रही है, यही सच्चा ज्ञान है। इसका उपपादन उनके सिद्धान्तमें इस प्रकार किया जाता है कि एक नदीके किनारे बैठे हुए हम लोग देखते हैं कि कई घण्टों वा कई दिनों तक एक ही प्रकारका जलका प्रवाह हमारी दृष्टिके सामने रहता है। किन्तु कुछ भी विचार करते ही बुद्धिमें स्पष्ट यह बात आ जायेगी कि एक क्षण पूर्व जो जल दृष्टिके सामने था वह दूसरे क्षणमें नहीं है। पूर्वक्षणका जल आगे निकल गया और उसके स्थानमें दूसरा जल आ गया। इस प्रकार प्रतिक्षण जल बदलता रहा। किन्तु स्थूल रूपसे दृष्टि यही समझती है कि मैं एक ही जल बराबर देर तक देख रही हूँ। इसे ही शास्त्रमें प्रवाह-नित्यता कहते हैं। इससे थोड़ा आगे बढ़िए। सायंकाल एक दीपक या एक बिजलीका बल्ब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जलाया और प्रातःकाल तक वह जलता रहा। स्थूलरूपसे दृष्टि यही बतायेगी कि एकही दीपक या एक ही विद्युत् रात-भर जलती है। किन्तु विचार-दृष्टिसे सोचनेपर यह समझमें आ जायेगा कि एक ही प्रकाश यदि रहता तो दीपका तेल या बिजलीका करेण्ट क्यों खर्च हो जाता। इससे स्पष्ट है कि प्रतिक्षण तेल या करेण्ट प्रकाशके रूपमें परिणत होता रहता है और पहले-पहले क्षणोंका प्रकाश निकलकर बाहरके पदार्थोंमें प्रवेश पाता रहता है। उससे पास रखी हुई वस्तुओंमें शीतके कीटाणु आदि नष्ट होते रहते हैं और एक प्रकारकी शक्ति आती रहती है। इसीलिए जिन मकानोंमें कोई प्रकाश नहीं रहता वहाँ शीघ्र ही शीतके कीटाणु आदि बढ़ जाते हैं और वह जीर्ण भी जल्दी हो जाता है। इससे सिद्ध हो गया कि दीपक या विद्युत्का प्रकाश प्रतिक्षण बदलता रहता है। पहले क्षणका प्रकाश दूसरे रूपमें जाकर नष्ट होता रहता है और नया-नया प्रकाश प्रतिक्षण उत्पन्न होता रहता है। और ज़रा आगे बढ़िए। सायंकालसे मेघकी एक घटा बरसने लगी और प्रातःकाल तक बरसती रही। स्थूल दृष्टिवाले लोग यही समझेंगे कि एक ही बादल सारी रात पानी बरसाता रहा। किन्तु विवेचना बुद्धि यह नहीं मान सकती। विचार दृष्टिसे स्पष्ट भासित हो जायेगा कि भाप रूपमें जलके कई स्तरोंसे एक बादल बना हुआ है। नीचेका स्तर गलकर जलके रूपमें गिर जाता है। तब दूसरे क्षणमें दूसरा स्तर पिघलने लगता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण एक-एक स्तर जल रूपमें परिणत होकर नीचे गिरता रहता है। बादलमें जितने स्तर हों उतनी देर ही वह बरसता रहेगा। जलके स्तरोंके समाप्त हो जानेपर या कठिन स्तरोंके न पिघलकर वायुकी प्रेरणासे आकाशके अन्य प्रदेशमें चले जानेपर वर्षा बन्द हो जाती है। इस प्रकार यह देखा गया कि जल-प्रवाह, दीप-प्रकाश या बादलके स्तर भिन्न-भिन्न होनेपर भी स्थूल दृष्टिसे एक ही प्रतीत होते हैं। इन्हीं दृष्टान्तोंसे समस्त संसारके पदार्थोंमें यही बात समझ लीजिए कि वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। पहलेके नष्ट होते रहते हैं, नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु हमारी स्थूल दृष्टि उन्हें एक ही मानती रहती है।

कदाचित् यह शंका हो कि जिन दीपक-मेघ आदिके प्रतिक्षण विनाश या परिवर्तन समझमें आ जायें उन्हें क्षणिक मान लिया जाये। किन्तु इन्हीं दृष्टान्तोंसे समस्त वस्तुओंको क्षणिक क्यों मान लें? सम्भव है कुछ पदार्थ क्षणिक होंगे और कुछ स्थायी भी होंगे। सबको एक ही तराजूसे क्यों तौला जाता है? किन्तु गम्भीर विचार करनेपर यह शंका भी हट जायेगी। पुष्प-फल आदि बहुत शीघ्र कुम्हला जाते हैं या सड़ जाते हैं। काष्ठमें कुछ कालमें घुन लगकर जीर्णता आ जाती है। पत्थर-लोहेमें कुछ अधिक समयमें कीड़े या ज़ंग लगकर जीर्णता आती है। कपड़ा भी शीघ्र फट जाता है। जो कपड़ा आज बड़ा दृढ़ प्रतीत होता है, बड़ा ज़ोर लगाने-पर भी फट नहीं सकता, उसकी कुछ महीने बाद ऐसी दशा हो जाती है कि अंगका स्पर्श होते ही फटने लगता है। बहुत बड़े-बड़े प्रासाद भी कुछ वर्षों बाद पुराने दिखाई देने लगते हैं। प्राणियोंके शरीर भी छोटेसे बड़े और अन्तमें बड़ेसे छोटे होते रहते हैं। तात्पर्य यह कि जगत्के प्रत्येक पदार्थमें परिवर्तन अवश्य दिखाई देता है। अब यह विचार करना चाहिए कि मान लीजिए कोई बड़ा प्रासाद बीस वर्षमें पुराना दीख पड़ने लगा, तो यह पुरानापन क्या नियत वर्षमें आया? इस प्रश्नका बुद्धि उत्तर देगी कि पुरानापन आनेके लिए कोई खास वर्ष नियत नहीं हुआ था। प्रतिवर्ष ही पुरानापन आता था। वह बीस वर्षमें स्पष्ट हो गया। अच्छा, तो प्रति-वर्षमें क्या कोई महीना या दिन नियत था जिसमें पुरानापन आवे? इस विचारका बुद्धिसे यही उत्तर मिलेगा कि कोई महीना या दिन तो इसके लिए नियत नहीं माना जा सकता कि जो पुरानापन ला दे। प्रतिमास या प्रतिदिन ही कुछ पुरानापन आता रहा। तब फिर पूछें कि दिन-रातमें क्या ऐसा कोई क्षण नियत है जिसमें पुरानापन आता हो? तब भी बुद्धिसे यही उत्तर मिलेगा कि कोई खास क्षण तो इसके लिए नियत नहीं है। प्रतिक्षण ही पुरानापन आता है। बस सिद्ध हो गया कि प्रत्येक पदार्थमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। वह किसी वस्तुमें थोड़े क्षणोंमें और किसी वस्तुमें दिन, मास, वर्षों या सैकड़ों वर्षोंमें लक्षित हो जाता है। यह लक्षित होना भिन्न-भिन्न वस्तुओंके अवयवोंके संगठनपर अवलम्बित है। जिस वस्तुके अवयवोंका संगठन बहुत दृढ़ है वहाँ परिवर्तन बहुत विलम्बसे प्रतीत होता है। जिस वस्तुके अवयवोंका संगठन जितना दुर्बल है उतनी ही शीघ्र उसमें परिवर्तनकी प्रतीति हो जाती है। शरीरोंकी भी यही व्यवस्था है। जिन शरीरोंमें अवयव संगठन दृढ़ होगा, बलपूर्ण होगा, उनमें अधिक कालमें वृद्धावस्था लक्षित होगी। दुर्बल संगठनवाले शरीर बहुत शीघ्र जीर्ण-शीर्ण और नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार प्रतीति होनेमें समयका तारतम्य रहनेपर भी वास्तविक दृष्टिसे परिवर्तन तो प्रतिक्षण ही मानना पड़ेगा। यदि प्रतिक्षण परिवर्तन न हो तो सैकड़ों वर्षोंमें भी वह प्रतीत नहीं हो सकता क्योंकि परिवर्तन करानेके लिए कोई खास दिन या क्षण नियत नहीं हुआ है। पहले-पहलेका नाश और नये-नयेकी उत्पत्ति – इसका नाम परिवर्तन है। परिवर्तन या बदलनेका और कोई स्वरूप नहीं बताया जा सकता। इस प्रकार समस्त पदार्थोंकी क्षणिकता सिद्ध हो जाती है। जो पर्वत आदि हज़ारों वर्षकी आयुके हैं उनमें भी परिवर्तन तो बराबर होता रहता है। कई मिट्टीके पहाड़ क्रम-क्रमसे पत्थरके बन जाते हैं और कईमें पत्थरोंका मिट्टीमें परिवर्तन होता रहता है। अवश्य ही परिवर्तन दीर्घ कालमें लक्षित होता है, परन्तु पूर्वोक्त युक्तिसे प्रतिक्षण ही परिवर्तन मानना पड़ेगा। सोना-हीरा आदि खनिज पदार्थोंमें बहुत काल तक परिवर्तन प्रतीत नहीं होता किन्तु परिवर्तन अवश्य अनुमान-सिद्ध है। हम देखेंगे, हमारे पुत्र-पौत्रादि देखेंगे। अपरिवर्तनीय कोई वस्तु संसारमें नहीं। और परिवर्तन पूर्वोक्त युक्तिसे प्रतिक्षण ही सिद्ध होता है।

इससे भी गम्भीर और युक्ति क्षणिकवादको बौद्ध-दर्शनमें बतलायी जाती है। वस्तुकी सत्ताका स्वरूप क्या है, इस विषयमें बौद्धदर्शनका सिद्धान्त है कि किसी नयी वस्तुका उत्पन्न करना या कोई कार्य करना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यही सत्ताका स्वरूप है। "अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्" – जिससे कोई काम न होता हो उसे सत् नहीं कहा जा सकता। संसारका प्रत्येक पदार्थ कुछ-न-कुछ करता है इसलिए वह 'सत्' है। अब विचारनेकी बात है कि प्रत्येक वस्तु किसी नियत क्षणमें ही कोई कार्य करती है। उससे आगे या पीछे वह कार्य नहीं होता। जैसे कि आम्रके वृक्षमें मंजरी और फल किसी खास क्षणमें ही प्रकट होते हैं। उसके पहले या पीछेके क्षणमें नहीं होते। जीवोंके सन्तति भी किसी खास क्षणमें ही उत्पन्न होती है, उससे आगे या पीछे नहीं। इसका क्या कारण है। यदि आम्रवृक्ष एक स्थायी वस्तु है और उसमें मंजरी या फल उत्पन्न करनेकी शक्ति है तो सर्वदा ही फलादिको उत्पन्न क्यों नहीं करता ? दूसरे दार्शनिक इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि किसी वस्तुके उत्पादनमें एक ही कारण नहीं होता। उसके साथ अन्यान्य कारणोंका भी योग रहता है। उन्हें सहकारी कारण कहा जाता है। तो जब सहकारी कारण मिले तब कार्यका उत्पादन होता है, बिना सहकारियोंकी सहायताके नहीं होता। आम्रवृक्षसे फलकी उत्पत्ति होनेमें ऋतु आदि भी सहकारी कारण हैं। इसलिए जब वह ऋतु आवे और दूसरे सहकारी जल आदिका भी योग्य सम्बन्ध प्राप्त हो तब फल पैदा होता है। सदा नहीं हो सकता। परन्तु इसपर प्रश्न होगा कि वे सहकारी कारण इस मूल कारणमें कोई विशेषता उत्पन्न करते हैं या नहीं। यदि विशेषता उत्पन्न न करें तो उनका होना न होना बराबर है। कारण सदा एक-सा ही रहा, तब सदा कार्य उत्पन्न क्यों नहीं होता, यह शंका भी जैसीकी तैसी बनी रही। यदि विशेषता उत्पन्न करते हैं तो आपने मान लिया कि विशेषतावाला वृक्ष उस एक ही क्षणमें था, जब कि उसमें-से फल प्रकट हुआ। उससे पहले या पीछे उस विशेषतासे युक्त वृक्ष नहीं था। बस कार्योत्पन्न करना जो सत्ताका लक्षण है वह एक ही क्षणमें रहा, पहले या पीछे नहीं। प्रश्न होगा कि क्या पहले वृक्ष ही नहीं था। ऐसा माननेपर तो प्रत्यक्ष प्रमाणका विरोध होगा। क्योंकि वृक्षको

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो हम पहले भी देखते थे और पीछे भी देखते हैं। इसका उत्तर है कि पहले या पीछेके क्षणोंमें और-और कार्य करनेवाला वृक्ष है, फल देनेवाला वृक्ष तो उस एक ही क्षणमें आया और फल देकर चला गया। कदाचित् कहा जाये कि उस वृक्षके कई कार्य ऐसे भी तो हैं जिन्हें वह बहुत काल तक लगातार करता रहता है जैसा कि छाया देना, या वायुको शीतल बनाना। यह कार्य तो वह दिन-भर करता रहता है तो दिन-भर उसकी सत्ता सिद्ध हो जायेगी। फिर सब पदार्थ क्षणिक कहाँ हुए? नहीं नहीं, थोड़ा गम्भीरतासे विचार कीजिए। छाया नाम है धूपको रोकनेका। उस रोकनेमें भी प्रतिक्षण कुछ तारतम्य रहता है। कभी धूप पूर्णरूपसे रुकती है, सघन छाया रहती है, कभी बीच-बीचमें धूप आ जाती है 'और छाया बिरल हो जाती है, भिन्न-भिन्न सूर्य किरणोंका रोकना भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है और आती हुई किरणें प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न सिद्ध हो जाती हैं। इसलिए छाया भी प्रतिक्षण भिन्न सिद्ध हो जाती है। चलते हुए वायुमें शीतलताका अर्पण वायु-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारका होगा ही। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर कोई भी कार्य स्थिर नहीं मिलेगा और कार्यके स्थिर रूप न होनेपर उसका कारण भी पूर्वोक्त सत्ता लक्षणके अनुसार क्षणिक ही सिद्ध हो जायेगा। वास्तविक बात तो यह है कि यदि कारण और कार्य एकरूप होते तो जगत्का स्वरूप बदलता हुआ दिखाई न देता। परन्तु प्रवाह स्वरूपसे जब जगत्का स्वरूप बदलता हुआ ही स्पष्ट दिखाई देता है तो कार्य-कारण सबको क्षणिक ही मानना पड़ता है।

यह क्षणिकवाद नया नहीं है। कुछ प्रक्रिया भेदसे सभी दर्शनोंमें यह स्वीकृत है। जैन दर्शनमें द्रव्य और पर्याय नामसे दो पृथक्-पृथक् पदार्थ माने गये हैं, पर्याय परिवर्तनशील है और द्रव्य स्थिर है। यहाँ पर्याय शब्दसे द्रव्यकी व्यवस्थाएँ कही गयी हैं। इस प्रकार वे स्थिरता और क्षणिकता दोनोंका निर्वाह करते हैं। परन्तु पर्यायसे द्रव्य और द्रव्यसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर्याय कभी पृथक्-पृथक् नहीं मिल सकते। जैसे आधार द्रव्यके बिना अवस्थाएँ कहीं नहीं मिल सकतीं, वैसे ही द्रव्य भी जब कभी मिलेगा तो किसी अवस्थामें ही मिलेगा, बिना किसी भी अवस्थाके द्रव्य भी नहीं मिल सकता। जैसे, फल एक द्रव्य है। कच्चा, पक्का, खट्टा, मीठा, कोमल, कठोर आदि उसकी अवस्था या पर्याय हैं। इनमें-से कोई-न-कोई अवस्था तो फलमें अवश्य रहेगी ही। तब सदा एक साथ रहनेवालोंको दो वस्तु क्यों माना जाये? जैन दर्शनादिमें द्रव्य और पर्यायका भेदाभेद माना जाता है, अर्थात् किसी दृष्टिसे पदार्थ द्रव्यसे अभिन्न भी है और किसी दृष्टिसे भिन्न भी। किन्तु दूसरे दार्शनिक भेद और अभेद साथ-साथ नहीं मानते। इससे द्रव्य और पर्याय एक ही हैं और वे क्षणिक हैं। यही माननेसे काम चल जाता है। "यह वही फल है जो पहले कठोर था अब कोमल हो गया है" – इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा अर्थात् दो पर्यायोंमें एकता बुद्धि द्रव्यको पर्यायसे पृथक् सिद्ध करती है। किन्तु बौद्ध-दर्शनमें इस प्रत्यभिज्ञा-को संस्कारवश उत्पन्न भ्रान्ति रूप मान लिया जाता है जैसा कि दीप-शिखा, मेघ आदिमें इसकी भ्रान्तिरूपता सिद्ध हो चुकी है। ऐसा ही सर्वत्र मान लेनेपर क्षणिकवादमें कोई विरोध नहीं रहता। सांख्यदर्शन सत्यकार्यवादी होता हुआ भी परिणामवादी है। चित्तरूप पुरुषके अतिरिक्त सब भाव प्रतिक्षण परिणामशील हैं, यह उनका स्पष्ट घण्टाघोष है। परिणामवाद और बौद्धोंके क्षणविनाशवादमें यह भेद है कि परिणामवादमें अवस्थाओंका परिवर्तन अर्थात् पूर्व अवस्थाका विलय और नवीन अवस्था-का प्रादुर्भाव माना जाता है, किन्तु एक मूलतत्त्वका अनुवर्तन रहता है, जैसे सुवर्णके कुण्डल तोड़कर ज़ंजीर बना ली गयी तो कुण्डल अवस्थाका विलय और ज़ंजीर अवस्थाका प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु सुवर्ण दोनों अवस्थाओंमें अनुवर्तमान रहा, उसका विलय वा प्रादुर्भाव न हुआ। विनाशवादमें अनुवर्तन किसीका नहीं माना जाता। सबका कुछ पुराना विनष्ट हो गया और नया उत्पन्न हो गया। यह भेद अवश्य है, किन्तु हम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभी पूर्व लिख चुके हैं कि अवस्था और द्रव्यका भेद सिद्ध करना कठिन है। बिना अवस्थाका सुवर्ण कहाँ मिलेगा। कुण्डल टूटकर पिण्ड अवस्था बनेगी, गला दोगे तो द्रव अवस्था हो जायेगी। बिना अवस्थाका सुवर्ण है ही क्या जिसका कि अनुवर्तन माना जाये। इसका समाधान कठिन है। फिर सुवर्ण अनिर्वचनीय हो जाता है। इसके अतिरिक्त कनक-कुण्डल जिस प्रकार सुवर्णकी अवस्था है, इसी प्रकार सुवर्ण भी किसी तत्त्वकी एक अवस्था ही तो है, मौलिक तत्त्व तो वह है नहीं। तब मौलिक तत्त्वकी अपेक्षा सुवर्ण अवस्थाका भी परिवर्तन माना जायेगा। वह तत्त्व भी किसी तत्त्वकी अवस्था ही है। यों क्रमसे मूलतत्त्वपर पहुँचना होगा। मूलतत्त्व सांख्य सिद्धान्तमें सत्त्व, रजस्, तमस् नामके ही गुण हैं और वे भी प्रतिक्षण परिणामशील माने गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्को क्षणिक कहनेमें प्रक्रिया भेदके अतिरिक्त सांख्य दर्शनका कोई बड़ा विरोध नहीं रह जाता, केवल इतना ही मुख्य भेद रहता है कि पुरुष या आत्मा सांख्यमें नित्य अपरिवर्तित माना जाता है, बौद्ध दर्शनमें उसका स्पष्ट स्वीकार नहीं है।

न्याय दर्शन उक्त प्रकारके परिणाम वा परिवर्तनोंसे सहमत नहीं है। वहाँ क्रिया वा कुछ गुण तो क्षणिक माने जाते हैं किन्तु सब पदार्थोंको वे क्षणिक नहीं कहते। जिनको क्षणिक कहते हैं उन्हें भी दो क्षण, तीन क्षण या चार क्षण तक मानते हैं, प्रतिक्षण विनाश किसीका नहीं मानते। किन्तु विचारपूर्वक देखनेसे वे भी क्षणिकवादसे नहीं बचते। उनके यहाँ अवयवी नामका एक पृथक् पदार्थ है। मृतिकासे एक घट नामका पृथक् पदार्थ उत्पन्न होता है, तन्तुओंसे भिन्न एक पट बनता है। और वह अवयवी अपने सब अवयवोंमें व्याप्त है। यदि उसका एक भी छोटेसे छोटा अवयव उससे अलग हो गया तो वह अवयवी नष्ट हो गया। ध्वंस-जन्य एक नया अवयवी हो गया। एक वस्त्रमें-से एक धागा किसी प्रकार खिसक गया तो वह वस्त्र दूसरा ही हो गया। एक वृक्षमें-से वायुके झोंकेसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक पत्ती या सींक गिर गयी, वा किसीने एक पत्ता तोड़ लिया, तो पूर्व वृक्ष नष्ट हो गया, या वृक्ष बन गया। इसी प्रकार अवयवोंमें वृद्धि हो जाये तो भी नया द्रव्य बन जाता है। अब विचारशील व्यक्तिको सोचना चाहिए कि वैज्ञानिक प्रक्रियापर दृष्टि डालनेसे ऐसे अवयव तो सब ही पदार्थोंमें प्रतिक्षण आते-जाते रहते हैं। हमारे शरीरमें नये-नये रुधिर-मांस बनते रहते हैं, पुराने नष्ट परिवर्तित होते रहते हैं। तब सब शरीर तो क्षणिक हो ही गये। वृक्ष आदिकी एक सींक भी किसी क्षणमें न टूटेगी, यह कहाँ सम्भव है। तब उनमें भी क्षणिकता आ गयी। दृश्य अवयवोंका क्षय वा वृद्धि भी हो तो भी उनमें अनुस्यूत दृश्यतत्त्व बदलते रहते हैं इसलिए क्षणिकताका प्रवेश दुर्निवार है। प्रस्तर आदि जड़ पदार्थोंमें भी अवयव परिवर्तन बराबर होता है, यह पहले क्षणिकवादके उपपादनमें दिखा चुके हैं। यों द्रव्योंमें क्षणिकता सिद्ध हो गयी। गुणोंमें भी पृथ्वीके रूप-रसादिमें तो पाक-द्वारा परिवर्तन नैयायिक मानते ही हैं। वह परिवर्तन प्रतिक्षण होता है? हरा आम लाल या पीला बनने तक कितने रूप बदलता है? कितने प्रकारके रस वा स्पर्श उसमें क्रमसे होते हैं? वे क्षणिक ही हैं। जलादिमें भी अवयवी पूर्वोक्त रीतिसे भिन्न हो जानेपर नये-नये गुण उसमें उत्पन्न होना उनके यहाँ माना ही गया है। कई संख्या आदि गुण तो उनके यहाँ केवल बुद्धि-सिद्ध हैं और वे क्षणिक हैं ही। क्रियाको तो वे स्पष्ट रूपसे क्षणिक मानते ही हैं। हाँ परमाणु, आकाश, काल आदि उनके यहाँ अवश्य नित्य हैं। किन्तु परमाणु जगत्के व्यवहारमें नहीं आता। काल आदि जो व्यवहारमें आते हैं, वे क्षणिक ही हैं। आत्माके गुण क्षणिक मान लेनेपर आंशिक क्षणिकता उसमें भी प्राप्त हो जाती है। क्षणिकका उत्पत्ति क्षण, स्थिति क्षण, विनाश क्षण आदि मानना केवल अवस्था भेद मात्र है। इससे क्षणिकता ही पूर्वोक्त रूपसे सिद्ध होती है। इसी आधारपर श्री शंकराचार्यने न्याय वैशेषिकको अर्धवैनाशिक कहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेदान्त-दर्शन भी मूलतत्त्व एक ब्रह्मको अपरिवर्तनीय नित्य मानकर दृश्य जगत्की क्षणिकता स्वीकार करता ही है। इसलिए जगत्की क्षणिकतामें उनका भी विरोध नहीं।

यों निरूपणकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न रखकर जगत्की क्षणिकता सब ही दर्शनोंमें किसी-न-किसी प्रकार मानी गयी थी। बुद्ध भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें उसे घोषित कर वैराग्य भावनाके उपदेशमें उससे पूर्ण सहायता ले ली। इसका ही आगेका रूप शून्यवाद आ जाता है और उससे वैराग्य भावना परिपुष्टतम हो जाती है। अन्य दार्शनिकोंके माने हुए आत्मा, ईश्वर आदि नित्य तत्त्वोंका प्रतिषेध भी बुद्ध भगवान्ने वैराग्य भावनाके परितोषके लिए ही किया है।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन दर्शन : अनेकान्तवाद

संस्कृत साहित्यमें जैनदर्शन 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्तवाद' नामसे प्रसिद्ध है। एकान्त शब्दका अर्थ होता है किसी एक विषयका सिद्धान्त रूपसे स्वीकार। जैन दर्शनमें यह नहीं किया जाता। वे कहीं भी एक रूप सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते। 'स्यात्' यह शब्द भी विभक्ति-प्रतिरूपक अर्थात् विभक्त्यन्तके समान दीखनेवाला माना जाता है। उसका भी यही अर्थ है कि निश्चित रूपसे किसी एक सिद्धान्तको स्वीकार न करना। जैसा कि आत्मा नित्य है या अनित्य ? इस प्रश्नका जैनदर्शनके सिद्धान्तके अनुसार उत्तर होगा कि किसी दृष्टिसे आत्मा नित्य भी है और किसी दृष्टिसे अनित्य भी इसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार गुणों और द्रव्योंमें परस्पर भेद है या अभेद ? इस प्रश्नका भी इस दर्शनके अनुसार यही उत्तर मिलेगा कि किसी दृष्टिसे भेद है और किसी दृष्टिसे अभेद भी। और तो क्या, यदि यह प्रश्न उठाया जाये कि प्रत्यक्ष दीखनेवाले घट, पट, नदी, पर्वत आदि पदार्थ हैं या नहीं ? तो इसका भी इस दर्शनके अनुसार यही उत्तर होगा कि किसी दृष्टिसे हैं और किसी दृष्टिसे नहीं भी हैं। अपने देश, काल, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वे 'हैं' कहे जा सकते हैं, और दूसरे अर्थात् जिस देश-कालमें वे नहीं हैं उस देश-कालकी दृष्टिसे या अपनेसे भिन्न दूसरे पदार्थके स्वरूपकी दृष्टिसे उन्हें 'नहीं हैं' भी कहा जा सकता है।

इन दृष्टि-भेदोंको ही उस शास्त्रमें 'नय' शब्दसे कहा जाता है। इसलिए उस शास्त्रकी परिभाषामें यों कह सकते हैं कि एक नयकी अपेक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पदार्थोंकी सत्ता है और दूसरे नयकी अपेक्षा वे असत् भी कहे जा सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ कुछ कार्य किया करता है – इस दृष्टिसे अपने स्वरूपसे वह सत् कहा जाता है और जब वही पदार्थ उस रूपमें न रहे, अर्थात् रूपान्तरमें चला जाये तब वह कार्य नहीं होता, इसलिए उसे इस दृष्टिसे असत् कहा जा सकता है। जैसा कि मृत्तिकासे एक घड़ा बनाया गया। वह घड़ा जबतक अपने रूपमें रहे तबतक उससे जल भरनेका काम होता है और जब वह टूटकर मृत्तिका या खण्डके रूपमें आ जावे तो वह कार्य नहीं कर सकेगा। इसलिए अब उसे घड़ा नहीं है अर्थात् घड़ा असत् है यह भी कह सकेंगे।

यहाँ यदि कोई यह प्रश्न करे कि ये तो बिलकुल भिन्न-भिन्न विषय हुए। घड़ा जबतक अपने रूपमें था तबतक वह सत् कहलाया, जब रूपान्तर अर्थात् मृत्तिका या ठीकरीके रूपमें चला गया तब उसे असत् कहा गया – इसलिए सत् और असत् दोनों एक जगह कहाँ आये? दृष्टि-भेदके अनुसार इन पदार्थोंमें भी तो भेद ही रहा, फिर एक ही वस्तुमें सत्ता और असत्ता दोनों कहाँ सिद्ध हुईं? इस शंकाका यह दर्शन उत्तर देगा कि घड़ा, मृत्तिका और ठीकरी ये सब भी सर्वथा भिन्न नहीं कहे जा सकते। ये सब पर्याय हैं और पर्याय द्रव्यसे सर्वथा भिन्न नहीं होते। घड़ा ही कभी अपने रूपमें रहता है और कभी मृत्तिका या ठीकरीके रूपमें चला जाता है। जैसा कि सुवर्ण कभी ढेलेके रूपमें मिलता है और कभी कड़ा, कुण्डल आदि आभूषणोंके रूपमें। इससे वह सर्वथा भिन्न नहीं हो जाता। यदि कोई पुरुष अपना आभूषण कड़ा-कुण्डल आदि बेचने जावे तो खरीदनेवाला पुरुष उससे यही कहेगा कि असली सोनेका दाम आप ले लीजिए। इस प्रकारके व्यवहारसे सोना ही कड़े या कुण्डलके रूपमें आया है – यह सोनेका कड़ा या कुण्डलसे अभेद ही सिद्ध होगा। इसी प्रकार घड़ा या ठीकरी भी मृत्तिकाका ही रूप है – यह उनका भी परस्पर अभेद ही प्राप्त होगा। किन्तु सर्वथा अभेद भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घड़ेसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
जो काम चलता है वह मृत्तिका या ठीकरीसे नहीं हो सकता। इसी प्रकार जैसे कड़ा या कुण्डल शरीरके अवयवोंमें धारण किये जा सकते हैं और धारण करनेपर शरीरकी शोभा बढ़ाते हैं, वैसे सुवर्णका एक ढेला धारण करनेका या शोभा बढ़ानेका काम नहीं दे सकता। इसलिए भिन्न-भिन्न कार्य करने और न करनेकी दृष्टिसे उन्हें भिन्न भी कहा जा सकता है। इससे तात्पर्य यही निकला कि एक ही वस्तुमें भेद-अभेद या सत्ता और असत्ता दोनों ही प्राप्त होते हैं। इन्हीं दृष्टि-भेदोंका क्रम और यौगपद्य अर्थात् दो दृष्टियोंका एक साथ मिलाना मानकर इस दर्शनमें सात भेद कर दिये जाते हैं। इसी आशयसे इसे 'सप्तभंगीनय' भी कहा जाता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर सब ही दर्शनोंमें किसी-न-किसी स्थानपर जाकर यह अनेकान्तवाद मानना ही पड़ता है। जैसा कि बौद्ध-दर्शनको ही लीजिए। वहाँ सब पदार्थोंको क्षणिक माना जाता है किन्तु क्षणिक होनेपर 'यह वही पदार्थ है', इस रूपमें प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पहचान कैसे बनेगी, इसके लिए वे क्षणिक पदार्थोंका एक सन्तान अर्थात् सिलसिला मानते हैं। क्रमसे क्षणिक पदार्थोंकी एक धारा चलती है, उस धारामें आये हुए सब क्षणिक पदार्थ एक रूप ही व्यवहारमें मान लिये जाते हैं। इसलिए प्रत्यभिज्ञा या पहचान बन जाती है। अब यदि यहाँ यह पूछा जाये कि वह सन्तान उन क्षणिक पदार्थोंसे भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न माना जाये तो वह भी उन पदार्थोंके समान क्षणिक ही हुआ, तब वह भी सबमें अनुगत कैसे बन सकेगा। और बिना अनुगत हुए पहचान कैसे करा सकेगा? और यदि भिन्न एक रूपसे सबमें अनुगत मान लिया जावे तो नाममात्रका विवाद रहा। स्थिर-पदार्थ मान ही लिया गया। जिन पदार्थोंको हम लोग घट-पट नामसे कहते हैं उनको ही उन्होंने सन्तान नाम दे दिया, तो इस प्रश्नका निश्चित रूपसे वे कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते। सन्तान पदार्थोंसे भिन्न भी है और अभिन्न भी, यही मानना पड़ेगा। यहाँ बौद्ध-दर्शनमें भी 'स्याद्वाद' आ गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी प्रकार न्याय-दर्शनमें भी सामान्य और विशेष दो प्रकारके पदार्थ माने जाते हैं। जैसा कि पृथिवी एक सामान्य है और घट-पट आदि उसके विशेष हैं। किन्तु इसी दृष्टिको यदि फैलावें तो पृथिवीसे व्यापक द्रव्य-पदार्थकी अपेक्षा पृथिवी भी विशेष कही जावेगी। तब यही कहना होगा कि पृथिवी सामान्य भी है और विशेष भी। घट-पट आदि-की अपेक्षा सामान्य है और द्रव्य आदि व्यापक पदार्थोंकी अपेक्षा विशेष भी। यह अनेकान्तवाद ही हुआ। इसी प्रकार घट-पट आदि पदार्थोंमें वे सत्ता नामका सामान्य धर्म मानते हैं। इससे वे घट-पट आदि पदार्थ सत् कहे जाते हैं। किन्तु एक सत्तामें दूसरी सत्ता नहीं मानी जाती। ऐसा माननेसे अनवस्था हो जावेगी। इसलिए सत्ताको स्वरूपसे ही सत् मान लेते हैं। इस प्रकार बहुत-से पदार्थ सत्ताके सम्बन्धसे सत् माने गये एवं सत्ता स्वरूपसे ही सत् मानी गयी। यह एक प्रकारका अनेकान्तवाद ही हुआ।

इसी प्रकार न्यायदर्शनमें शास्त्रार्थके लिए एक 'व्याधिकरण-धर्मा-वच्छिन्नाभाव' माना जाता है। उसका आशय यही है कि घटत्व रूपसे घट है, पटत्व रूपसे घट नहीं है। यह स्पष्ट ही अनेकान्तवादकी छाया वहाँ दिखलाई पड़ती है।

सांख्य-दर्शनमें भी 'सत्कार्यवाद' माना जाता है। अर्थात् सब कार्य सदा ही सत् रूप है। यदि प्रश्न किया जावे कि यदि घट-पट आदि अपनी उत्पत्तिसे पूर्व भी सत् रूप ही हैं, तो फिर उनको पैदा करनेके लिए प्रयत्न क्यों करना पड़ता है? इसका उत्तर वहाँ यही दिया जाता है कि सब कार्य अपने-अपने कारणमें अव्यक्त, अर्थात् अप्रकट सूक्ष्म-दशामें रहते हैं। उन्हें व्यक्त अर्थात् प्रकट दशामें लानेके लिए यत्न करना पड़ता है। अब यदि पुनः प्रश्न हो कि वे व्यक्त या अव्यक्त दशाएँ उन पदार्थोंसे भिन्न हैं या अभिन्न? यदि अभिन्न मानोगे तो वे अवस्थाएँ भी पदार्थोंके समान पहलेसे ही थीं, फिर उनके लिए प्रयत्न क्यों? और यदि भिन्न मानो तो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवस्थाएँ असत् ही पैदा होती हैं, यह मान लेनेपर 'सब पदार्थ सदा सत् रूप ही हैं' यह अपना सिद्धान्त कट जाता है। इसलिए विवश होकर उन्हें भी यहाँ अनेकान्तवाद ही मानना पड़ता है कि अवस्थाएँ द्रव्य आदि पदार्थोंसे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।

इसी प्रकार वेदान्त-दर्शनकी जो अनेक शाखाएँ प्रसिद्ध हैं उनमें भी श्री रामानुजाचार्यने 'तत्त्वमसि' श्रुति-वाक्यके समन्वयके लिए ब्रह्मसे जीवका भेद और अभेद दोनों ही माने हैं। और श्री वल्लभाचार्य भी भगवान्‌को सब विरुद्ध धर्मोंका आधार मानते हैं। तब उन धर्मोंका भगवान्‌से भेद या अभेद या परस्पर भी विरोध और अविरोध दोनों ही मानने पड़ते हैं। इस प्रकार जहाँ सब पदार्थोंको माया-जन्य या मिथ्या ही कह दिया जावे, उस मायावादरूप श्री शंकराचार्यके सिद्धान्तके अतिरिक्त और सभी वेदान्तके भाष्यकारोंके सिद्धान्तमें कहीं-न-कहीं जाकर अनेकान्तवादका स्वीकार करना ही पड़ता है। इससे इस अनेकान्त-वादरूप जैन-सिद्धान्तकी एक प्रकारसे व्यापकता ही सिद्ध हो जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैशेषिक दर्शन : पदार्थ निरूपण

भगवान् कणादने वैशेषिक-दर्शनमें छह पदार्थ माने हैं जिनके नाम हैं : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। ये छह भाव-पदार्थ हैं और आगेकी उनकी निरूपण-प्रक्रियासे सिद्ध होता है कि वे अभावको भी अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं। इस प्रकार इस दर्शनमें सात पदार्थ माने गये, ऐसी सब जगह प्रसिद्धि है। किन्तु भगवान् कणादकी निरूपण-प्रक्रियामें कुछ विलक्षणता-सी प्रतीत होती है। उन्होंने पहले छह पदार्थोंका नाम-निर्देश किया और उसके अनन्तर द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनोंके समान-धर्म और विरुद्ध-धर्म दिखलाकर तीनोंके पृथक्-पृथक् लक्षणोंका भी अपने सूत्रोंमें निरूपण कर दिया। और आगे चलकर अपने सूत्र-पाठके द्वितीय अध्यायमें "सामान्य विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्" ऐसा लिखा है। यदि छह पदार्थ उनको अभिमत होते तो पहले छहों पदार्थोंका लक्षण बतलाकर फिर आगे दूसरी कोई बात कहना उचित होता। इस प्रक्रियासे स्वर्गीय विद्या-वाचस्पति श्री मधुसूदनजी ओझाने यह अभिप्राय निकाला है कि कणाद भगवान्के मतमें द्रव्य, गुण, कर्म नामके तीन ही पदार्थ हैं। इन तीनोंके सामान्य और विशेष रूपसे समवाय अर्थात् समूह ही सब पदार्थ हैं। उनके तत्त्व-ज्ञानसे मनुष्यको मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसका तात्पर्य यही है कि जिन पदार्थोंको हम प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जानते हैं वे सब ही द्रव्य, गुण और कर्मके समूह रूप हैं। उनमें कई गुण और कई प्रकारकी क्रियाएँ दृष्टिगत होती हैं और ये गुण तथा क्रिया जिसके आश्रयसे रहें वह उन सबका आलम्बन द्रव्य कहा जाता है। इन तीनोंके समुदायको पदार्थ कहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता है, अर्थात् किसी भी शब्दका वाच्य अर्थ इन तीनोंका समुदाय ही होता है। ये तीनों सब जगह साथ ही रहा करते हैं। इन तीनोंका समवाय अर्थात् समूह ही सब पदोंका वाच्य अर्थ जानना चाहिए। इस प्रकारकी उद्देशभूत पदार्थोंके नाम निर्देशवाले सूत्रकी व्याख्या करनेसे तीन तत्त्व ही इनके मतसे सिद्ध होते हैं। आगे जो कहा है कि "सामान्य-विशेष इति बुध्यपेक्षम्", उसका तात्पर्य है कि सामान्य-विशेष नामसे कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वे तो हमारी बुद्धिसे कल्पित हैं। कई पदार्थोंको हम दूसरोंकी अपेक्षा समान भावसे समझते हैं और कईको पृथक् रूपसे समझते हैं। जिन्हें समान भावसे समझें वे सामान्य कहलाते हैं और जिन्हें विशेष रूपसे समझें वे विशेष कहे जाते हैं। जैसा कि जब हमारी बुद्धि सब घड़ोंको एक आकारका समझने लगे तब वह घटत्व-सामान्य हो जाता है और किसी घटपर कोई खास चिह्न करके जब हम उसे औरोंसे पृथक् समझने लगें तो वही विशेष रूप हो जाता है।

इनमें क्रियाको तो उन्होंने क्षणिक माना है और गुणोंको जबतक द्रव्य रहे तबतक रहनेवाला – 'यावद्-द्रव्य भावी' वे मानते हैं। यद्यपि पृथ्वी या पृथ्वीके बने हुए पार्थिव पदार्थोंमें पाक अर्थात् विलक्षण प्रकारके तेजके संयोगसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारोंका बदलना प्रत्यक्ष रूपमें दिखलाई देता है। जैसा कि आम्रवृक्षमें जो फल लगता है वह एक पार्थिव पदार्थ है। उसमें पहले कठोरता अर्थात् कठिन-स्पर्श, खट्टा रस, और हरा रूप तथा कच्चेपनका गन्ध हुआ करता है, किन्तु आगे धीरे-धीरे प्रकृति-द्वारा तेजका संयोग होनेपर अथवा कृत्रिम रूपसे पाल लगाकर तेजका संयोग कर देनेपर वे चारों ही गुण बदल जाते हैं। अब उसमें पीत रूप, मीठा रस, मृदु स्पर्श, और पूर्वकी अपेक्षा विलक्षण ही गन्ध भी हो जाता है। इसी प्रकार सब फलोंमें तो रूप-रस आदिके बदलनेका अनुभव होता ही है, किन्तु पृथ्वीके अन्य भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भी अनुमानसे इन रूप-रस आदिका परिवर्तन जाना जा सकता है। जैसा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि वृक्षमें-से पहले पत्ते निकलते हैं, उन पत्तोंका बनानेवाला रस ही आगे चलकर टहनी-डाली आदिके रूपमें परिणत होकर काष्ठ बन जाता है। इसी प्रकार मृत्तिका ही जल और सूर्य किरणोंके सम्बन्धसे पत्थर आदिके रूपमें आ जाया करती है। किन्तु ये सब घटनाएँ केवल पृथ्वीमें ही दिखलाई देती हैं। पृथ्वीमें तो अवान्तर जातियाँ परमाणु अवस्थामें उस दर्शनमें नहीं मानी जातीं इसलिए जौ, गेहूँ, चावल आदि धान्योंका भेद भी वहाँ बीजके सम्बन्धसे पाकसे ही हुआ माना जाता है। इनके अतिरिक्त आत्मामें जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि गुण माने जाते हैं वे भी क्षणिक हैं अर्थात् क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं। इन पृथ्वीके गुण और आत्म-गुणोंके अतिरिक्त और सब द्रव्योंके गुण सदा रहनेवाले ही होते हैं। यद्यपि जलमें भी फेन-तरंग आदि परिवर्त्तन देखे जाते हैं। किन्तु उनको वहाँ जलका ही रूप माना जाता है। इस कारण इसे वे परिवर्तन नहीं कहते।

यों उनके यहाँ द्रव्य, गुण और कर्म तीनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यह दूसरी बात है कि आगेके दर्शन सांख्य, वेदान्त आदि इन तीनोंको भी भिन्न-भिन्न नहीं मानते। उनमें माना जाता है कि क्रिया ही जब आश्रयके सम्बन्धसे स्थिरता ग्रहण कर ले तो वही गुण कहलाने लगती है। और बहुत-से गुणोंके समुदायको एक रूपमें समझनेपर उसीका नाम द्रव्य हो जाता है। अस्तु, यह आगेके दर्शनोंकी बात है। वैशेषिक दर्शनमें तो इन तीनोंको भिन्न-भिन्न ही माना जाता है, और क्रियाकी वहाँ यही विलक्षणता मानी जाती है कि एक क्रियासे दूसरी क्रिया पैदा नहीं होती तथा वे सब क्रियाएँ क्षणिक ही होती हैं। जहाँ हम किसी पत्थरको ऊपर-की ओर उछालें वहाँ हमारी मोटी निगाहसे ऐसा ही प्रतीत होता है कि देर तक एक ही क्रिया उस पत्थरमें रही, अथवा एक क्रियासे दूसरी क्रिया पैदा होकर इनकी परम्परा देर तक चली। किन्तु विचार-दृष्टिसे देखनेपर ऐसा सिद्ध नहीं होता। वहाँ हमने अपने हाथसे जो क्रिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्थरमें पैदा की वह एक प्रकारका वेग नामका गुण उस पत्थरमें उत्पन्न कर देती है, और वह वेग ही आगेकी क्रियाओंको उत्पन्न किया करता है। इसका दृष्टान्त वे उस जगह प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं कि जब कोई पुरुष या स्त्री मूसलसे धान कूटने लगती है तो देखा जाता है कि उस मूसलमें स्पष्ट एक प्रकारका वेग पैदा हो जाता है जिसके कारण हाथकी थोड़ी-सी ही क्रियासे मूसल ज़ोरसे उछलने लगता है। ऐसे ही धर्मोंके कारण वे क्रियाको गुणोंसे पृथक् मानते हैं, और गुणोंमें भी कोई मूर्ति या आकार नहीं होता। इसलिए वह मूर्ति या आकार जिसमें हो वही द्रव्य कहलाता है। यों इन तीनों पदार्थोंको उनके दर्शनमें पृथक्-पृथक् ही माना जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सांख्य दर्शन : सत्कार्यवाद

भगवान् कपिल आर्य-संस्कृतिमें आदि विद्वान् माने जाते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका मूल कारण क्या था, और यह कबतक रहेगा – इत्यादि गम्भीर विषयोंका विचार सबसे पहले भगवान् कपिलने ही प्रकट किया। उन्होंने अपने सांख्य दर्शनमें यही सिद्धान्त प्रकट किया है कि कोई नयी वस्तु कहीं उत्पन्न नहीं होती। सब वस्तुएँ सर्वदा ही रहती हैं। वे कभी सूक्ष्म अर्थात् अव्यक्त अवस्थामें और कभी स्थूल अर्थात् व्यक्त अवस्थामें आ जाया करती हैं। यही अवस्था-परिवर्तन जगत्में हुआ करता है। नयी वस्तु न उत्पन्न होती है और न स्थित वस्तुका कभी विनाश ही होता है। इसे ही सांख्य दर्शनका सत्कार्यवाद कहा जाता है। इसके सांख्य दर्शनमें कई दृष्टान्त दिये जाते हैं। तिलोंमें तेल पहलेसे है, उसे ही यन्त्रमें पेलकर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। दहीमें मक्खन व्याप्त है, उसे ही मथकर प्रकट कर दिया जाता है। जब आप किसी शिल्पीसे राम या कृष्णकी या शेर-हिरण आदिकी प्रतिमा बनानेको कहते हैं तो वह एक बड़ा पत्थर लेता है और अपने औजारोंसे पत्थरके अंशोंको टाँचकर आपकी पसन्दकी प्रतिमाको उसी पत्थरमें-से प्रकट कर देता है, बाहरसे कुछ नहीं लाता। इससे यही सिद्ध होता है कि तेल, घृत, प्रतिमा आदि पहलेसे ही उन पदार्थोंमें विद्यमान थे, उनपर अन्य अवयवोंका एक आवरण पड़ा हुआ था। उस आवरणको हटाकर उन्हें प्रकट कर दिया गया, नयी वस्तु कोई नहीं बनायी गयी। इन्हीं दृष्टान्तोंसे सर्वत्र सत्कार्यवाद समझ लेना चाहिए। मृत्तिकासे घड़ा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

या सुराही बनानेमें भी नयी वस्तु उत्पन्न नहीं होती अपितु मृत्तिकाकी चूर्ण, पिण्ड, घट, आदि अनेक अवस्थाएँ हैं, एक अवस्था जबतक रहे, वह दूसरी अवस्थाओंको दबाये रहती है अर्थात् उनको ढाँके रखती है, बनानेवाले एक अवस्थाको हटाकर दूसरी अवस्थाको प्रकट कर देते हैं। इसी प्रकार तन्तुसे पट बनाना, स्वर्ण-पिण्डसे कटक, कुण्डल, हार आदिका निर्माण करना भी एक अवस्थाको दबाकर दूसरी अवस्था प्रकट कर देना मात्र ही है। पहलेसे असत् वस्तुका उत्पादन कहीं नहीं है। संयोगज पदार्थोंके जो दृष्टान्त दिये गये हैं उनमें भी अंशतः जो तत्त्व या शक्ति कई जगह बिखरी हुई थी उनको एक जगह एकत्रित कर प्रकट कर दिया है। नयी वस्तु नहीं बनायी जाती। रज और शुक्रमें अंशतः रहनेवाले शरीरके अवयवोंको एकत्रित कर दिया है, बारूदमें भी कोयले और शोरेमें अंशतः रहनेवाली ध्वंसक शक्तिको एकत्रित कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। मलाईमें भी प्रखरता वायुका अंश है और द्रवता दुग्धका अंश अब भी बना हुआ है। दोनोंका सम्मिश्रण मात्र हुआ है, नयी वस्तु कोई उत्पन्न नहीं हुई। इसी प्रकार विनाश जिसे कहते हैं वहाँ भी वस्तुका अभाव नहीं होता, अवस्था-परिवर्तन मात्र हो जाता है। जैसा कि शीतकालमें सरोवरमें जो जल भरा हुआ था वह ग्रीष्ममें सूख गया, इससे उसका अभाव नहीं समझा जा सकता, किन्तु वह द्रवावस्थासे वाष्पकी अवस्थामें चला गया, फिर वर्षामें घनीभूत होकर द्रवावस्थामें आ जायेगा। यही अवस्थाओंका चक्र चलता रहता है। सत्का अभाव वा असत्की उत्पत्ति नहीं होती।

न्याय दर्शनमें जो घट-पटादि नये अवयवी अवयवोंसे उत्पन्न माने जाते हैं वह प्रारम्भिक दशामें सिखानेकी प्रक्रिया मात्र हैं। उनकी जो युक्ति है कि नाम, रूप और क्रिया तीनों नये बन जाते हैं, इसलिए नये पदार्थकी उत्पत्ति मान लेना चाहिए। घटका जैसा रूप अर्थात् आकार घटावस्थामें बना वैसा पहले नहीं था। आगे घड़ा फूट जानेपर भी न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहेगा। घट नाम भी न पहले था न उसके नष्ट होनेपर ही रहेगा। जल भरकर लाना यह कार्य भी घटसे ही होता है, पूर्व सिद्ध मृत्तिकासे नहीं। शरीरको ढककर शीत निवारण करना वस्त्रका ही काम है सूतका नहीं। इसलिए घट-पट आदि नयी वस्तु बनीं यही मानना उचित है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' वाला सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यदि किया जाये तो इतना ही हो सकता है कि भाव और अभाव दोनों अलग-अलग वस्तु हैं। वे एक-दूसरेके रूपमें परिणत नहीं हो सकतीं। अर्थात् भाव कभी अभावके रूपमें नहीं जा सकता और अभाव कभी भावके रूपमें नहीं आ सकता। किन्तु नये-नये भाव तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनका अभाव अर्थात् विनाश भी होता ही रहता है। इसका उत्तर सांख्य सिद्धान्तमें यह दिया जाता है कि एक-एक मनुष्यमें सेना शब्दका व्यवहार नहीं होता, किन्तु उनका समुदाय होनेपर वह सेना शब्दसे कहा जाता है। एक मनुष्य उतना स्थान नहीं घेर सकता किन्तु सेना बहुत बड़ा स्थान घेर लेती है। इससे रूप अर्थात् सन्निवेशका भेद भी सिद्ध है और एक मनुष्य किसी बड़े पत्थर या छप्परको नहीं उठा सकता परन्तु समुदाय मिलकर यह कार्य कर लेता है। इस प्रकार नाम, रूप, कर्म तीनों नये होनेपर भी सेना या समुदाय मनुष्योंसे भिन्न कोई अलग वस्तु है – यह कोई बुद्धिमान् व्यक्ति शायद स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार वृक्ष-वनको भी समझा जा सकता है। नैयायिक भी सेना और वनको मनुष्यों या वृक्षोंसे पृथ्क नहीं मानते। बस, यही बात घट-पट आदि पदार्थोंमें भी है। वहाँ भी सन्निवेश रूप अवस्थासे नये नाम-रूपोंका व्यवहार हो जाता है। एक मृत्तिकाका कण भी जलका कुछ अंश धारण कर ही लेता था, समुदाय हो जानेपर अधिक जलका आहरण उसके द्वारा हो जाता है। एक तन्तु भी शरीरके कुछ हिस्सेको ढाँक सकता था, समुदाय हो जानेपर सम्पूर्ण शरीरका ढँकना उनके द्वारा सम्भव हो जाता है। इससे मृत्तिका या तन्तुकी अपेक्षा घट और वस्त्रका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसी प्रकार भेद सिद्ध नहीं होता जिस प्रकार मनुष्य और सेनाका या वृक्ष और वनका।

इसपर नैयायिक फिर एक युक्ति देते हैं कि छोटेसे बड़ा बनना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारण धाराका अन्वेषण करनेपर अन्तमें एक ऐसा पदार्थ मानना पड़ता है कि जिससे छोटा कोई हो ही न सके। अर्थात् जिसके अवयव न हों, उसको परमाणु संज्ञा है। वह अति-सूक्ष्म होनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता इसलिए उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। आगे उनके मिलनेसे क्रमशः जो बड़े-बड़े पदार्थ बनते हैं वे अवयवी कहलाते हैं। अब यदि नवीन पदार्थकी उत्पत्ति न मानी जायेगी तो घट, पट, वृक्ष, पर्वत आदि सभीको परमाणुओंका एक-एक पुंज कहना होगा और परमाणुके अतीन्द्रिय होनेके कारण उनके समूह भी अतीन्द्रिय होंगे। तब किसी वस्तुका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। किन्तु प्रत्यक्ष तो सभी पदार्थोंका होता है, इसलिए परमाणुओंसे दृश्य पदार्थ अतिरिक्त बने यह मानना ही पड़ेगा। दूसरी युक्ति वे यह देते हैं कि यह एक घट है, एक पट है, इत्यादि रूपसे जो एकत्वकी प्रतीति होती है उसका फिर आधार क्या होगा। क्योंकि अवयव तो एक हैं नहीं, वे तो बहुत हैं। तब यही मानना होगा कि बहुतोंसे मिलकर कोई एक वस्तु बनी है जिसमें एकत्वकी हमें प्रतीति हो रही है। किन्तु इन सारी युक्तियोंको भी सांख्य और वेदान्तके विद्वान् नहीं मानते। वे कहते हैं कि आरम्भवाद अर्थात् छोटेसे बड़ा बनना यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। परिणामके द्वारा भी वस्तुसे दूसरी वस्तुकी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसा कि दूधसे दहीका निर्माण। यहाँ भी यह कल्पना करना कि दूधके परमाणु अलग-अलग होकर दूधका विनाश हो गया और फिर उनमें उष्णताके संयोगसे नये रूप-रसादि उत्पन्न होकर दहीके परमाणु प्रकट हुए, तब दही उत्पन्न हुआ, इस प्रकारकी कल्पनाएँ बिलकुल निस्सार और प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। एक व्यक्ति निरन्तर अपनी दृष्टि जमाकर उस दूधको देखता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहे तो ऐसा कोई अवसर उसकी दृष्टिके सामने नहीं आयेगा जब दूध परमाणु रूप होकर अतीन्द्रिय हो गया हो। वह देखेगा कि दूध ही धीरे-धीरे दधिरूपमें परिणत हो रहा है। इसलिए न्यायदर्शनका यह मूल परमाणुवाद ही युक्तिसिद्ध नहीं ठहरता और परमाणुओंको अतीन्द्रिय मान लेना भी एक अपनी परिभाषा मात्र है। सूक्ष्मताके कारण एक परमाणुका प्रत्यक्ष न भी हो सके तो भी समूह होनेपर उनका प्रत्यक्ष हो सकेगा। जैसे हमें दूरसे एक केश या एक चींटी दिखाई नहीं देती, किन्तु समूह होनेपर वे दिखाई दे जाती हैं। इसी प्रकार परमाणुपुंज रूप घट, पट, वृक्ष, पर्वत आदिका प्रत्यक्ष होनेमें कोई बाधा नहीं है। यदि कहा जाये कि प्रत्यक्षमें महत्त्व (बड़ापन) कारण है। इस महत्त्व-का आधार क्या मानेंगे ? क्योंकि परमाणुओंके अतिरिक्त कोई द्रव्य आप स्वीकार नहीं करते और परमाणुओंमें महत्त्व है नहीं तो यह शंका भी निराधार है। क्योंकि अणुत्व या महत्त्व कोई खास गुण नहीं। वे तो जगह घेरनेके एक नामविशेष हैं। जो अधिक प्रदेशमें फैले उसे महान् कह दिया जाता है और जो अल्प प्रदेशमें रहे उसे अणु कह दिया करते हैं। समूह जब अधिक प्रदेशमें फैलेगा तब वही महान् कहला जायेगा और प्रत्यक्षकी योग्यता भी उसमें हो जायेगी। इसी प्रकार समूहके एक होनेके कारण एकत्वबुद्धि भी बन जाती है। एक सेना है, एक वन है – यह भी तो प्रतीति होती ही है, वहाँ तो कोई एक नयी वस्तु नहीं बनी। समूहको एक साथ समझनेपर घट-घट आदि समूहोंमें भी एकत्वबुद्धि बन जायेगी। इसपर नैयायिक कहते हैं कि तुम्हारे मतसे यह एकत्व-प्रतीति काल्पनिक हुई और कल्पना उसी वस्तुकी हो सकती है जो कहीं अपने असली रूपमें विद्यमान भी हो। जैसा कि सिंह एक प्राणी संसारमें है। उसके आधारपर हम एक वीर पुरुषको भी सिंह कह देते हैं। किन्तु वास्तविक सिंह यदि संसारमें होता ही नहीं तो किसी मनुष्यको सिंह कहनेका भी अवसर हमें नहीं मिलता। आपके मतानुसार एकत्वकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीति कहीं भी वास्तविक नहीं है क्योंकि परमाणुका तो प्रत्यक्ष नहीं इसलिए उसमें एकत्व-प्रतीति नहीं हो सकती। उसके अतिरिक्त नवीन वस्तुकी उत्पत्ति आप मानते नहीं, तब मुख्य एकत्वका ज्ञान कहीं भी नहीं होगा और मुख्यके बिना काल्पनिक ज्ञान भी युक्तियुक्त न हो सकेगा। इस शंकाका भी सांख्य और वेदान्त दर्शन यह समाधान कर देते हैं कि मुख्य प्रतीति होनेपर ही काल्पनिक प्रतीति हो, ऐसा कोई नियम नहीं। कल्पनाओंकी परम्परासे भी काम चल जाता है। उत्तरोत्तर कल्पनाओंमें पूर्वकी काल्पनिक प्रतीति कारण बनती जाती है। जैसा कि बीजगणित आदिमें कोई अंक वास्तवमें 'अ' 'ब' रूप नहीं होता किन्तु उनमें 'अ' 'ब' आदिकी कल्पनासे ही बहुत बड़ा शास्त्र बना लिया गया। इसलिए न्याय दर्शनकी युक्तियाँ केवल प्रारम्भिक शिक्षाके लिए उपयुक्त हैं, आगे गम्भीर विचारमें वे सब युक्तियाँ नहीं ठहरतीं और 'असत्की उत्पत्ति नहीं होती व सत्का विनाश नहीं होता' यह सिद्धान्त सुस्थिर बन जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

योग : ऋतम्भरा

वैदिक साहित्यमें 'ऋत' शब्दका विशेष वैज्ञानिक अर्थ भी है। परन्तु सामान्यतः यह शब्द सत्यका समानार्थक है। ऋतम्भरा योगदर्शनमें एक पारिभाषिक शब्द है जो मस्तिष्ककी एक अत्यन्त योगपूर्ण अवस्थाका सूचक है। 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का विवरण भी योगसूत्र तथा योगभाष्यमें उपलब्ध होता है। मनुष्यको सामान्यतः जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाणसे होता है। किसी बातको हम या तो देखकर समझते हैं या आप्त पुरुषके कहे गये शब्दोंसे जानते हैं तथा बहुत-सी बातों-को अनुमानसे समझते हैं। कहना न होगा कि इनमें-से किसी भी प्रकारका ज्ञान मनुष्यको बुद्धिकी सहायताके बिना नहीं हो सकता। परन्तु साथ ही यह बात भी निर्विवाद है कि बुद्धिमें मानव अपनी सामर्थ्यसे अतिशय योग्यता उत्पन्न करता रहता है। यही कारण है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी बातकी गहराई तक भी पहुँच जाता है जब कि बिना पढ़ा-लिखा व्यक्ति ऊपर-ऊपरकी सहतसे ही अपना पीछा छुड़ानेको समुद्यत होता है।

भारतीय संस्कृतिमें यह महती विशेषता है कि जहाँ अन्य देशोंमें बाहरी वस्तुओंमें विशेषता उत्पन्न कर उन्हें अपने उपयोगी बनानेकी विद्या सिखायी जाती है वहाँ भारतीय संस्कृतिमें मनुष्यमें भी संस्कारोंके द्वारा अतिशय उत्पन्न कर उसे समाजके पूर्ण उपयोगी तथा परम पुरुषार्थ मोक्ष-तक पहुँचनेके लिए समर्थ बनाया जाता है। ये अधिकांश संस्कार मानवकी बुद्धिमें ही अतिशय उत्पन्न करते हैं। इन्हीं संस्कारोंसे परिष्कृत बुद्धियोंकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विविध संज्ञाएँ शास्त्रोंमें विभिन्न स्थलोंपर विचारित हुई हैं। बुद्धिका गुण उसकी सूक्ष्मता है। वह किसी बातका मर्म समझ जाती है, अतएव किसी बुद्धिमान् व्यक्तिकी प्रशंसामें कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति बड़ी कुशाग्र बुद्धिवाला है। बुद्धिको कुशके अग्रभागके समान सूक्ष्म माना जाता है। बुद्धिका एक गुण उसकी प्रखरता भी है। कविगण जिस नवनवोन्मेष-शालिनी बुद्धिका आश्रय लेकर संसारको चमत्कृत कर देनेवाले काव्योंकी रचना करते हैं उसका नाम प्रतिभा रखा गया है –

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।"

आर्य शास्त्रोंमें पूर्वजन्मके संस्कारोंका भी महत्त्व स्वीकार किया गया है। अतः पूर्वजन्मार्जित संस्कारसे जो बुद्धि प्राप्त होती है उसे 'मति' कहा जाता है। बुद्धिमें जब स्मृति शक्ति प्रबल मात्रामें होती है या उसमें धारण करनेकी विशेष सामर्थ्य होती है तब उसे 'मेधा' कहा जाता है –

"धीर्धारणावती मेधा"

भारतकी प्राचीन व्यवहार-पद्धतिमें बुद्धिको पुष्ट, सूक्ष्म, और प्रखर तथा धारणावती रखनेपर विशेष बल दिया जाता था। भारतीय धर्म-शास्त्रोंमें जो खाद्याखाद्य-व्यवस्था सम्बन्धी लम्बे-चौड़े विधि-निषेध हैं उनके मूलमें बुद्धिको स्वच्छ तथा सूक्ष्म रखनेका प्रयास ही है। इसका बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे यहाँ प्रतिदिन सन्ध्योपासनमें जो गायत्री जपका विधान है उस मन्त्रमें बुद्धिके अधिष्ठाता देवता सूर्यसे बुद्धिको पुष्ट बनानेकी ही प्रार्थना की गयी है। मुद्राराक्षस नाटकमें चाणक्यने बड़े गर्वसे कहा है, 'नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यसुभगा बुद्धिस्तु मागान्मम' अर्थात् मेरी वह बुद्धि जिसने नन्द-जैसे प्रतापी सम्राट्को समूलोन्मूलित कर दिया वह सर्वदा मेरे पास ही रहे, वह कहीं न जाये।

हमने प्रारम्भमें कहा था कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे मनुष्य अपनी बुद्धिके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकारके प्रमाणोंसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान कुछ सीमाओंमें आबद्ध रहा है। वे सीमाएँ देश और कालकी हुआ करती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। व्यक्तित्व भी ज्ञानमें अन्तर्भूत रहता है। प्रत्येक ज्ञान किसी-न-किसी स्थान और किसी-न-किसी समयकी अवश्य ही अपेक्षा रखता है। कभी भविष्यका प्रत्यक्षके समान ज्ञान इन प्रमाणोंसे नहीं हो पाता और यही बात बीते हुए समयके लिए भी समझी जा सकती है। शब्दप्रमाणसे यह तो जाना जा सकता है कि रामचन्द्र पहले हुए थे, परन्तु रामचन्द्रको प्रत्यक्ष देखना असम्भव है। परन्तु भारतीय दर्शन यहाँ भी निराश नहीं होते। योगदर्शनकी 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का अर्थ यही है कि यह वह अवस्था होती है जब कि समाधिमें भूत और भविष्यके अर्थों या घटनाओंका प्रत्यक्षके समान ही अनुभव होने लगता है। ऋतम्भरा प्रज्ञाके माध्यमसे जो ज्ञान होता है उस ज्ञानमें देश और कालके परिच्छेद नगण्य हैं। साथ ही एक अन्य विशेषता उस ज्ञानमें यह भी होती है कि प्रत्यक्ष अनुमान आदिसे जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसमें सामान्य बोध वस्तुका होता है। किसी एक कुरसीको जब हम अपनी आँखोंसे देखते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हमने उस कुरसीको पूर्ण रूपसे देख लिया। उस कुरसीका जितना हिस्सा हमारे नेत्रोंके आगे आया है उतना हमारे नेत्र देख लेते हैं, परन्तु उसका अधिकांश भाग हमारी दृष्टिसे ओझल ही रहता है। फिर प्रश्न होगा कि हमें यह ज्ञान क्यों होता है कि हम पूरी कुरसीको देख रहे हैं न कि उसके किसी विशेष भागको, वहाँ उसके उत्तरमें दार्शनिकोंको यही कहना पड़ता है कि अपने पूर्ण ज्ञानमें संस्कारवश हमें एकत्वका आभास हो जाता है। यही बात अनुमान-जन्य ज्ञानमें भी होती है। धूमको देखकर हमें वह्निका अनुमान तो हो जाता है परन्तु उस अनुमानजन्य ज्ञानमें विशेष बोध नहीं हो पाता। हम यह अनुमानसे नहीं जान सकते कि वह अग्नि किस प्रकार-की है, वह कितने परिमाणमें है। परन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञासे जो ज्ञान होता है उसमें देश-कालादि भी नहीं रहते और वह ज्ञान सभी विशेषताओंको लिये हुए होता है। ऋतम्भराकी भूमिकामें पहुँचकर योगीके लिए कोई भी बात अप्रत्यक्ष नहीं रह जाती। वह भूत-भविष्य आदिका भी साक्षात्कार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करनेमें पूर्ण समर्थ होता है। मस्तिष्ककी वह स्थिति समस्त रागद्वेषादि भेद-भावोंसे शून्य योगयुक्त ऋषियोंकी होती थी। मनुष्यकी प्रज्ञाका प्रभाव बाह्य जगत्पर भी पड़े बिना नहीं रहता। इसीलिए ऋषियोंके आश्रमोंमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव रखनेवाले गो-व्याघ्रादि प्राणी भी मित्रभावसे निवास करते थे ऐसा वर्णन मिलता है। चित्तकी उस स्थितिमें सत्यका ही प्रतिभास होता है। वहाँ मिथ्या या विपर्ययी ज्ञानकी गन्ध भी नहीं रहती, अतएव ऋत अर्थात् सत्यसे परिपूर्ण होनेके कारण उसका नाम भी ऋतम्भरा है। यही कारण है उन समाधि-निष्ठ ऋषियोंके द्वारा प्रणीत शास्त्रोंको हमारे यहाँ परम प्रमाण माना जाता है। उपनिषदोंमें इस प्रकारके ऋषियोंके अनेक वर्णन हैं।

बुद्धिकी अन्य अवस्थाओंका वर्णन शास्त्रोंमें है जिससे यह पता चलता है कि बुद्धि तत्त्वका और उसकी शक्तियोंका हमारे आचार्योंको कितना सूक्ष्म परिचय था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेदान्त दर्शनका तत्त्वविचार

'वेदान्त' नामको ही कुछ सज्जनोंने एक हौआ-सा समझ रखा है। वे मानते हैं कि इसमें तो जगत्के मिथ्यात्वका ही ढिंढोरा पीटा जाता है, कोई समझनेकी वा युक्तिकी बात इसमें नहीं आती और यह मनुष्योंको अकर्मण्य बना देता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह दृढ़ युक्तियोंसे परिपूर्ण एक महाशास्त्र है और व्यवहारमें भी इसकी युक्तियोंका पूरा उपयोग हो सकता है।

वेदान्त शब्दका अर्थ है वेदका अन्तिम भाग। आर्य जातिके सर्वमान्य ग्रन्थ वेद दो भागोंमें विभक्त हैं : मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्र भाग मुख्य है, ब्राह्मण भाग उसकी व्याख्या है। ब्राह्मणके भी तीन भाग होते हैं : एक ब्राह्मणके नामसे ही कहलाता है, इसमें यज्ञ आदि कर्मोंका विस्तारसे विधान है। दूसरा भाग आरण्यक कहलाता है, इसमें उपासनाओंका विशेष वर्णन है। तीसरा भाग उपनिषद् नामसे प्रसिद्ध है। इसमें इस जगत्का मूल तत्त्व क्या है, और समझनेवाले हम लोगोंका मूल तत्त्व क्या है, ये दोनों मूल तत्त्व एक ही हैं और उस महामूल तत्त्वसे अपने-आपको मिला देना ही परम पुरुषार्थ है – इन विषयोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। इस प्रकार वेदका अन्तिम भाग होनेके कारण उपनिषदोंका नाम वेदान्त हुआ। आगे उन उपनिषदोंकी मीमांसा करनेवाले सूत्र, उनके भाष्य और उनपर लिखे गये विद्वानोंके निबन्ध भी उपनिषदोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण वेदान्त कहलाये। वेदान्त शब्दका एक दूसरा अर्थ भी है? वेदका अर्थ है ज्ञान, उसका यहाँ अन्त हो जाता है। अर्थात् मूल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्वको समझ लेनेके बाद और कोई जाननेकी बात नहीं रह जाती।

उपनिषदोंमें ही एक कथा आती है कि उद्दालक नामक एक ऋषि थे, उन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतुको पढ़नेके लिए गुरुके घर भेजा। जब वह युवा होकर विद्या पढ़कर अपने घर लौटा तो पिता उद्दालकने देखा कि पुत्र कुछ अभिमानी हो गया है, इसके मनमें ऐसा भाव है कि मैं बहुत कुछ जान गया। इस प्रकारका अभिमान मनुष्यको नष्ट कर देता है, इसलिए इस अभिमानको दूर करना चाहिए। यह विचार कर उन्होंने एक दिन पुत्रको अपने पास बुलाया और पूछा कि कहो क्या-क्या पढ़ आये हो। उसने विद्याओंका नाम गिनाया और कहा कि सब कुछ मैंने पढ़ लिया है। तब पिताने पूछा कि तुमने वह विद्या भी पढ़ी या नहीं कि जिससे बिना पढ़ा हुआ भी पढ़ेके समान हो जाये, जो कभी नहीं जाना वह भी जान लिया जाये। इसपर पुत्रने चकित होकर कहा कि ऐसी विद्या तो गुरुदेवने मुझे नहीं पढ़ायी, और मैं समझता हूँ कि वे भी ऐसी विद्या नहीं जानते होंगे, यदि जानते होते तो मुझे बतानेकी अवश्य कृपा करते। अब वह विद्या कृपाकर आप ही मुझे सिखाइए। तब उद्दालकने उसे समझाया कि देखो एक मिट्टीसे जितने पदार्थ संसारमें बनते हैं उन सबका भिन्न-भिन्न रूपसे जान लेना भी एक मनुष्यके लिए अपनी आयु-भरमें कठिन है। किन्तु वह मृत्तिकाके गुण-धर्मोंको ठीक समझ ले तो मृत्तिकाके किसी भी पदार्थको पहले चाहे न भी देखा हो पर अब देखते ही समझ जायेगा कि यह मृत्तिकाका बना हुआ पदार्थ है। भिन्न-भिन्न पदार्थोंके नाम और रूप अर्थात् आकार ही भिन्न-भिन्न होते हैं। सत्य भाग तो उनमें मृत्तिका-का ही है। इस प्रकार एक लोहेके गुण-धर्म, एक छोटी-सी नहरनीमें भी समझ लेनेपर लोहेके बने हुए संसारके सब पदार्थ समझमें आ जाते हैं। इन दृष्टान्तोंसे ही समझो कि इस सम्पूर्ण जगत्का मूल तत्त्व जिसने समझ लिया वह सारे जगत्के स्वरूपको जान चुका, अब आगे उसे जाननेकी कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती। तात्पर्य यही है कि तुमने मूल तत्त्वको

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझा कि नहीं। आगे उसीका विवरण पिताने उसे समझाया और यह भी बतलाया कि वही मूल तत्त्व तुम्हारे भीतर भी विद्यमान है। तुम उससे अलग नहीं हो। इसीका नाम अद्वैत है। अर्थात् जगत्में दो वस्तु नहीं हैं। एक ही मूल तत्त्व भिन्न-भिन्न नामों और रूपोंसे दिखाई दे रहा है, यह समझ लेनेपर ज्ञानका अन्त हो जाता है। इसके आगे जाननेकी कोई बात नहीं रहती। इसलिए भी इसे वेदान्त कहते हैं।

इस उपनिषद् भागको मीमांसा श्री वेदव्यासजीने सूत्र रूपसे लिखी है। व्यास ही इस दर्शनके सूत्रकार और परमाचार्य हैं। प्रत्येक दर्शनमें चार प्रकारके ग्रन्थ होते हैं : श्रुति, स्मृति, आकर, निबन्ध। वेदान्त दर्शनकी श्रुति उपनिषद् है, स्मृति भगवद्गीता है, और सांगोपांग उस दर्शनका युक्तिपूर्वक विवरण जिनमें हो वे आकर ग्रन्थ कहलाते हैं – इस दर्शनके वे आकर ग्रन्थ हैं व्यासप्रणीत सूत्र और उनके भाष्य। भाष्य मुख्य वेदान्त दर्शनपर श्री शंकराचार्यका है जो कि अद्वैत तत्त्वका विस्तार-से प्रतिपादन करता है। इन सूत्र भाष्योंमें श्रुतियोंमें कहे गये सिद्धान्तोंको युक्तियों-द्वारा भी परिपुष्ट किया गया है और अन्य दर्शनोंकी युक्तियोंकी विस्तारसे आलोचना भी की गयी है। अन्यान्य साम्प्रदायिक आचार्योंने भी सूत्रोंपर भाष्य लिखे हैं, इनमें परस्पर सिद्धान्तोंका विरोध-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह दृष्टि-भेद मात्र है। संसारमें हम देखते हैं कि उपादान कारणका अपने कार्यके साथ क्या सम्बन्ध है, इस विचारमें अनेक दृष्टि-भेद हो सकते हैं। जिससे जो वस्तु बनती है उस वस्तुका वह उपादान कारण कहा जाता है। जैसा कि वस्त्रके उपादान कारण धागे हैं। अब वस्त्र और धागोंके परस्पर सम्बन्धके विषयमें कई प्रकारकी दृष्टि हो सकती है। धागोंसे वस्त्र नामकी एक नयी वस्तु उत्पन्न हो गयी, यह एक दृष्टि है। क्योंकि वस्त्र नाम पहले नहीं था, किन्तु अब हुआ है। पृथक्-पृथक् धागे रहनेपर वैसा आकार भी नहीं था, इसलिए रूप भी नया बना; धागे अंगका आच्छादन नहीं कर सकते थे अर्थात् पहननेका काम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
नहीं दे सकते थे, वस्त्र वह काम देने लगा। इस प्रकार नाम, रूप और कर्म तीनों पृथक् होनेसे वस्त्र नामकी एक नयी वस्तु बन गयी। यह हुआ भेदवाद या द्वैतवाद।

दूसरी दृष्टि यह है कि धागोंका ही तो आतान-वितान (ताना-बाना) वस्त्रके रूपसे प्रतीत होता है, नयी वस्तु क्या आयी ? उतने धागे मिलकर जितने प्रदेशमें व्याप्त होते उतना ही प्रदेश यह वस्त्र भी घेरता है; जितना उनका तौल था वही तौल वस्त्रका भी रहता है। रही नाम-रूप और कर्म-की बात सो ये तो समुदायमें बिना नयी वस्तुके उत्पन्न हुए भी देखे जाते हैं। जैसा कि एक-एक वृक्ष वन नहीं कहलाता किन्तु वृक्षोंके समुदायका नाम वन पड जाता है, एक-एक सैनिकको सेना नहीं कहते किन्तु उनका समुदाय सेना कहलाता है। यहाँ वन और सेनामें नयी वस्तुकी उत्पत्ति कोई नहीं मानता। जो काम – नगर आदिको घेरना – एक-एक सैनिक नहीं कर सकता वह नया काम भी सेनाके द्वारा होता है फिर भी सेना अलग नहीं मानी जाती, फिर धागे और वस्त्र ही क्यों अलग माने जायें ? इसलिए धागे ही पट हैं, यह अद्वैतवाद हुआ। दोनों ही प्रकारकी युक्तियाँ मिलीं, इसलिए भेद और अभेद दोनों ही ठीक है। पट तन्तुसे भिन्न भी है और अभिन्न भी, यह द्वैताद्वैतवाद हुआ। तन्तु तो पटसे पहले भी थे और पट नष्ट हो जानेपर भी रहेंगे इसलिए स्वतन्त्र होनेके कारण वे पृथक् हैं। किन्तु वस्त्र तन्तुओंसे पृथक् कभी भी नहीं मिलता इसलिए वस्त्र तन्तुओंसे अभिन्न है; किन्तु तन्तु वस्त्रसे भिन्न हैं, यह दूसरे प्रकारका द्वैता-द्वैतवाद हुआ। धागोंमें वस्त्र उत्पन्न करनेकी एक शक्ति है क्योंकि धागोंसे ही वस्त्र बनता है, और किसी वस्तुसे नहीं बनता। वह शक्ति वस्त्रकी सूक्ष्मावस्था ही कही जा सकती है। सूक्ष्म अवस्था और स्थूल अवस्था अलग-अलग नहीं हो सकती इसलिए शक्ति-विशिष्ट धागोंके साथ वस्त्रका अभेद है, यह विशिष्टाद्वैतवाद हुआ। भेद-अभेद आदि साथ-साथ नहीं रह सकते इसलिए वस्त्र एक अनिर्वचनीय वस्तु है, न उसे भिन्न ही कहा जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है न अभिन्न ही। ऐसी स्थितिमें न उसकी अलग सत्ता कह सकते हैं न असत्ता। तब वह भेदाभेद रूपसे वा सत्-असत् रूपसे अनिर्वचनीय है, यह अनिर्वचनीयवाद हुआ। इन ही दृष्टि-भेदोंमें-से एक-एक दृष्टिको प्रधान मानकर एक-एक आचार्यने अलग-अलग विवरण कर दिया है। श्री शंकराचार्यने अद्वैतके साथ मिलाकर अनिर्वचनीयवादकी दृष्टिको प्रधान रखा; श्री रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैतवादकी दृष्टिको और श्री निम्बार्काचार्य तथा श्री भास्कराचार्यने द्वैताद्वैतवादकी दृष्टिको प्रधानता दी; श्री मध्वाचार्यने द्वैत दृष्टि ही प्रधान रखी, यही दृष्टि न्याय दर्शनमें भी थी; और श्री वल्लभाचार्यने शुद्ध अद्वैतको ही प्रधान माना। इस प्रकार दृष्टि-भेदसे ब्रह्मसूत्रके भिन्न-भिन्न भाष्य और उनके अनुसार कई सम्प्रदाय-भेद हो गये। गम्भीर विचार करनेपर ये दृष्टि-भेद मात्र ही हैं; उपनिषद्, भगवद्गीता और उनकी मीमांसा करनेवाले ब्रह्मसूत्र सबको ही मान्य हैं। इस तन्तु-पटके दृष्टि-भेदको जो कि दृष्टान्त रूपसे कहा गया उसे मूलतत्त्व ब्रह्म और उसके कार्य जगत्पर समझ लेना चाहिए।

वेदान्त दर्शनका मुख्य कथन यही है कि सम्पूर्ण संसारका मूलतत्त्व एक ही है। जड़, चेतन, स्थावर, जंगम इत्यादि सब भेदोंमें वह मूलतत्त्व व्याप्त है। स्वयं वह मूलतत्त्व मन और वाणीकी पहुँचसे परे है। नाम और रूप मन तथा वाणीके विषय होते हैं, मूलतत्त्व नाम-रूपसे रहित है। नाम-रूप उसीके आधारपर उत्पन्न हुए हैं। इसको लौकिक दृष्टान्तमें यों समझिए कि कटक, कुण्डल, हार आदि सब आभूषण सुवर्णसे बनते हैं। कहा जा सकता है कि ये सब सुवर्णकी ही अवस्थाएँ हैं जो भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें प्रतीत हो रही हैं। सुवर्ण इन सबमें व्याप्त है और इन सबसे स्वतन्त्र है। वही इन सबका उपादान है। किन्तु उस सुवर्णका अवस्थाओंको छोड़कर स्वतन्त्र रूप क्या है वह वाणीसे नहीं कहा जा सकता और न ध्यानमें ही आ सकता है। जब कभी जहाँ कहीं सुवर्ण हमें मिलेगा किसी अवस्थामें ही मिलेगा। सुवर्णकी टिकली, उसका ढेला वा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
तार ये सब अवस्थाएँ ही तो हैं। इन सब अवस्थाओंसे अलग करके आप सुवर्णको सोचिए कि वह क्या वस्तु है। वह कभी ध्यानमें नहीं आ सकता। जब एक-एक लौकिक वस्तुकी यह दशा है कि हम उसका असली रूप नहीं जान सकते तब जो सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण है उसका नाम-रूप हमारे मन या वाणीमें आवे इसकी सम्भावना ही क्या! इसपर प्रश्न होगा कि जो मन और वाणीमें आता ही नहीं ऐसी वस्तुको माना ही क्यों जाये। इसका उत्तर होगा कि बिना कारणके जब जगत्में किसी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती तो सम्पूर्ण जगत् बिना कारण ही कैसे बन गया, यह भी तो प्रश्न रहेगा। इसलिए सबका कारण कोई मानना ही पड़ेगा। यदि कहा जाये कि न्याय दर्शनके समान पृथ्वी-जल आदिको स्वतन्त्र तत्त्व मानकर उनके अणुओंको उनका कारण मान लेनेसे निर्वाह हो जाता है, तो फिर मन-वाणीसे परे एक तत्त्वकी कल्पना क्यों? इसका उत्तर होगा पृथ्वी, जल, तेज आदि जब एक-दूसरेके रूपमें बदलते हुए देखे जाते हैं तब उन्हें स्वतन्त्र तत्त्व कैसे कहा जाये? सुवर्णकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ एक-दूसरीके रूपमें बदलती हैं। इसलिए उन्हें स्वतन्त्र न मानकर सबका कारण सुवर्णको मान लेना पड़ता है। वर्तमान कालके पाश्चात्त्य वैज्ञानिक भी पहले हाइड्रोजन ऑक्सीजन आदिको स्वतन्त्र तत्त्व मानते रहे किन्तु जब उन्होंने एक तत्त्वको दूसरे तत्त्वके रूपमें बदलता हुआ देखा तो अपनी उस भिन्न तत्त्ववादकी थिओरीको उन्होंने छोड़ दिया और अब सबके मूल एलेक्ट्रोन और प्रोटोनको मूलतत्त्व मानने लगे हैं। ये दोनों भी एक ही की अवस्थाएँ हैं, यह सिद्धान्त भी प्रायः पाश्चात्त्य-वैज्ञानिकोंमें चल पड़ा है।

अतः भारतका जो एक मूल तत्त्ववाद अनादि कालसे चल रहा था उसका आज पाश्चात्त्य विज्ञानके मध्याह्न कालमें भी विजय हो रहा है यह कम गौरवकी बात नहीं है।

वेदान्तके द्वारा जगत्को मिथ्या कहे जानेपर जो विद्वान् नाक-भौंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिकोड़ते हैं उनका उत्तर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने अपने 'गीता रहस्य'में दिया है कि नाम-रूप तथा अवस्थाको मिथ्या तो व्यवहारमें भी कहा जाता है। मान लीजिए कि किसी धनिकने अपनी सम्पत्तिके युगमें बहुत-से मनोहर आभूषण बनवाये। उनमें गढ़ाई और जड़ाईकी ऐसी सुन्दरता करवायी कि 'सोनेसे गढ़ाई भारी'की कहावतको प्रत्यक्ष करा दिया। दैवात् वह दरिद्र हो गया और उन आभूषणोंका विक्रय करनेको सर्राफ़के पास ले गया और उनमें जितनी लागत लगी थी वह सर्राफ़को सुनायी, तो सर्राफ़ने कहा कि बाबूजी गढ़ाई-जड़ाईकी बात जाने दीजिए, असली सोनेका दाम ले लीजिए। इससे स्पष्ट हो गया कि कारण द्रव्य ही व्यवहारमें भी असली माना जाता है। गढ़ाई-जड़ाई या नाम-रूप तो कल्पित और मिथ्या ही समझे जाते हैं, उनका मूल्यांकन नहीं होता। वस्तुतः मिथ्या कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि नाम-रूपात्मक जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह सत्-चित्-आनन्द रूप परब्रह्म वा परतत्त्वके आधारपर ही व्यवस्थित हैं, अतः कल्पित मात्र हैं।

ब्रह्म या परतत्त्व समस्त जगत्में सत्ता, चेतना और आनन्द इन तीनों रूपोंमें व्याप्त है। इसीलिए प्रत्येक पदार्थके साथ उसकी सत्ता 'अस्ति' "है" शब्दसे कही जाती है इसलिए सत्ता सबमें व्यापक है, बिना ज्ञानके किसी वस्तुकी सत्ता नहीं कही जा सकती इसलिए ज्ञान भी सर्वत्र व्यापक है। जड़-चेतन व्यवहार केवल इन्द्रियोंके विकास और अविकास-पर ही अवलम्बित हैं। परस्पर अनुकूलताके कारण आनन्द भी सर्वत्र व्याप्त है, अनुकूलता ही आनन्दका रूप है। यही वेदान्त दर्शनका संक्षिप्त सार है।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दतत्त्वपर भारतीय दृष्टिकोण

वर्तमान समयमें विज्ञानके प्रकाशमें जिन अभिनव विद्याओंका आविष्कार और पल्लवन हुआ है उनमें भाषा-विज्ञान अथवा भाषा-शास्त्रीय अध्ययनकी भी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। भाषा-विज्ञानके विद्वानोंकी मान्यताके अनुसार यद्यपि इस शास्त्रके आदिस्रोत ब्राह्मण और निरुक्त आदि ग्रन्थोंमें देखे जा सकते हैं परन्तु भाषा-विज्ञानका एक स्वतन्त्र विद्याके रूपमें जो विकास आज हमें देखनेको मिलता है, विशेषकर तुलनात्मक भाषा-विज्ञानका, वह तो आधुनिक विज्ञानके युगमें ही सम्भव हो सका है।

वर्तमान भाषा-विज्ञान जहाँ संसारकी समस्त भाषाओंके स्वरूप और उनके साम्यपर विचार करता है वहाँ भाषाकी उत्पत्तिको भी अपना विषय बनाता है। भाषाकी उत्पत्ति कैसे हुई इस विषयपर भी अनेक विद्वानोंकी अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ हैं। परन्तु वे सभी कल्पनाएँ इस बातको लेकर ही सामने आती हैं कि मनुष्य प्रारम्भमें भाषा या बोली नहीं जानता था। धीरे-धीरे उसमें भाषाका विकास हुआ। परन्तु हम जो वाणीका उच्चारण करते हैं उसमें क्या क्रम है, वाणी किस प्रकार उच्चरित होती है, यह भाषाकी उत्पत्तिका विचार भाषा-विज्ञानके विद्वानोंने इसलिए छोड़ दिया कि इसपर कोई युक्ति-युक्त विचार उनके ध्यानमें नहीं आया।

इस प्रसंगमें सर्वप्रथम तो यही बतलाना आवश्यक है कि आधुनिक भाषा-विज्ञानमें जिस गुत्थीको दुरूह समझकर छोड़ दिया गया है, वही भारतीय शब्द-शास्त्रके आचार्योंका प्रधान प्रतिपाद्य विषय रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूत्रकार भगवान् पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतंजलिने भाषाके प्रकट होनेकी प्रक्रिया स्थान-स्थानपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रदर्शित की है। इससे भी पूर्व वेदमें परा-पश्यन्ती आदि वाणीके विभागोंका नाम और उनका क्रम अनेक मन्त्रों और ब्राह्मणोंमें विस्पष्ट निर्दिष्ट हुआ है। आगे चलकर वाक्यपदीयके रचयिता परम वैज्ञानिक विद्वान् भर्तृहरिने तो बहुत विस्तारसे भाषाके प्रादुर्भावकी इस प्रक्रियाका निरूपण किया है और शब्दशास्त्रके अन्य आचार्य भट्टोजि दीक्षित और नागेश भट्ट आदिने आगे चलकर शब्दके नित्यत्ववादको प्रबल युक्तियोंसे प्रतिष्ठित कर शब्द-शास्त्रको एक स्वतन्त्र दर्शनका रूप प्रदान किया।

सर्वप्रथम मान्यता वैयाकरणोंकी यह है कि शब्दतत्त्व व्यापक और नित्य है। सूत्रकारने भी स्थान-स्थानपर शब्दके विषयमें 'जनी-प्रादुर्भावे' और 'णश अदर्शने' कहा है, जिसका अर्थ है कि पाणिनि 'जनी' धातुका अर्थ उत्पन्न होना नहीं अपितु 'प्रादुर्भाव' मात्र मानते हैं और 'णश' या नाशका अर्थ शब्दकी सत्ताका अभाव नहीं अपितु उसका अदर्शन या तिरोभाव ही मानते हैं। तत्त्वतः शब्द व्यापक है वह सर्वथा समाप्त कभी नहीं हो सकता और न ही नया पैदा हो सकता है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिने भी अपने भाष्यके प्रारम्भिक पस्पशाह्निकमें यह प्रश्न उठाया है – "कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्" ? अर्थात् "आचार्य पाणिनिका यह लक्षण किस प्रकार प्रारम्भ होता है" ? इसका उत्तर वार्तिककारने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" – इस वार्तिकसे दिया है। पतंजलिने इसकी व्याख्यामें शब्द और अर्थके पारस्परिक सम्बन्धका अनेक प्रकारसे विचार किया है। महाभाष्यकारने सर्वत्र शब्दकी नित्यताका समर्थन किया है।

इस विचारमें हम देखते हैं कि महाभाष्यकार पतंजलिने पदों और वाक्योंकी भी नित्यताका प्रतिपादन करते हुए एक मौलिक विचार दार्शनिक जगत्के सामने रखा। क्योंकि न्याय दर्शनमें शब्दोंकी नित्यताका युक्तियों-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
द्वारा खण्डन कर शब्दोंको अनित्य या नाशवान् सिद्ध किया गया था। इसी प्रकार मीमांसा दर्शनमें भी क ख ग घ आदि पृथक्-पृथक् वर्णोंको तो नित्य माना गया है परन्तु वर्णोंके समूह-रूप पदों और वाक्योंको अनित्य ही माना गया है। यद्यपि मीमांसा सूत्रकार जैमिनिने "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इस सूत्रके द्वारा यह बतलाया है कि शब्द और अर्थका परस्पर सम्बन्ध नित्य है; इससे यह प्रकट होता है कि अर्थ प्रकट करनेवाले पदोंको जैमिनि नित्य मानते हैं, क्योंकि पृथक्-पृथक् वर्णोंका अर्थसे सम्बन्ध मानना सम्भव नहीं। परन्तु मीमांसाके भाष्यकार शबर-स्वामीने वर्णोंकी नित्यताको ही स्वीकार किया है तथा पद और वाक्यकी नित्यताका निराकरण किया है।

वेदान्त दर्शनके परमाचार्य शंकराचार्यने भी "दैवताधिकरण"में वैयाकरणोंके "स्फोटवाद"का उल्लेख तो किया है परन्तु उन्होंने उसका खण्डन कर मीमांसकोंके वर्ण-नित्यतावादकी ही प्रतिष्ठापना की है। 'स्फोट'-का विवेचन आचार्य पतंजलिसे प्रारम्भ हुआ और महाभाष्य-रूपी महार्णव-पर सेतुकी रचना करनेवाले आचार्य भर्तृहरिने पद और वाक्य स्फोटका स्पष्टीकरण करते हुए –

"तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ॥"

वह मुक्तिका मार्ग और वाणीके मलोंकी अनुपम चिकित्सा है—यह कहते हुए व्याकरणकी स्तुति की और उसे मुक्तिका द्वार माना। भर्तृहरि आगम (तन्त्र) शास्त्रके भी आचार्य हैं–इसीलिए यों तो वेद ही सब विद्याओंका मूल स्रोत है, वहींसे सब विद्याओंका विकास आर्य जाति मानती है, किन्तु इस स्फोटवादका विकास आगम शास्त्रके मूलपर व्याकरणमें ही हुआ है।

वैदिक सृष्टि-प्रक्रियामें क्षर, अक्षर, और अव्यय इन तीनों पुरुषोंका प्रतिपादन हुआ है। उनमें अव्यय पुरुषकी कलाओंमें 'वाक्' नामक कला-को ही शब्द-दर्शनमें मुख्य स्फोट माना गया है। वह संसारके समस्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दार्थोंको उत्पन्न करती है, इसके अनन्तर क्षर पुरुषकी कलाके रूपमें जिस अन्य 'वाक्' शक्तिका निरूपण शास्त्रोंमें हुआ है, वह व्याकरण-सिद्धान्तमें व्यावहारिक स्फोट मानी जाती है। अव्ययकी वाक्रूप कलाका श्रुतियोंमें भी पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है –

"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे
वाचं गन्धर्वा पशवो मनुष्याः
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता
सा नो हवं जुषतामिन्द्रपात्नी–"

—तैत्तिरीय ब्राह्मण

अर्थात् सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, पशु और मनुष्य वाणीका उपजीवन करते हैं, उसके आधारपर रहते हैं, ये समस्त भुवन वाणीपर ही स्थित है।

"यद् वै प्रजापते परमस्ति वागेव तत्"

—शतपथ ५।११।२८

अर्थात् वाक् तत्त्व उतना ही व्यापक है जितना कि ब्रह्म।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि आर्षवाङ्मयमें वाक्को सर्वव्यापक तत्त्व माना गया है। भर्तृहरिने इसीका निरूपण करते हुए –

"स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा नवागनपायिनी"

—वाक्यपदीय

कहकर वाक्का आत्मतत्त्वके रूपमें निरूपण किया है। आगे जब श्रुतिमें सृष्टिका विवरण हुआ, वहाँ भी आत्मस्वरूप परा वाक्से शब्द घन रूप आकाशकी ही सर्वप्रथम उत्पत्ति बतलायी गयी। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" – जो तत्त्व सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ वही सबसे सूक्ष्म अतएव सर्वव्यापक है यह बात युक्तियुक्त है। आगम शास्त्रमें बिन्दुसे व्यापक नादकी प्रथम उत्पत्ति कही गयी है, उसमें भी शब्द-भेदसे यही तात्पर्य है। वह 'शब्द ब्रह्म' या 'नाद ब्रह्म' ही व्यावहारिक स्फोट है। परा वाक्को तो केवल योगावस्थामें ही जाना जा सकता है, अत्यन्त सूक्ष्म होने-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
के कारण यह सर्वजन-संवेद्य नहीं होती अतः यह व्यवहारसे ऊपरकी वस्तु है। इसके बाद अव्यय पुरुषसे अक्षर और क्षरमें वाक्का अवतरण हुआ है। आगम शब्दोंमें इसी बातको इस प्रकार कहेंगे कि 'परा' स्वरूपसे पश्यन्ती और मध्यमामें वाणीकी अवतारणा होती है। वाक्के 'पश्यन्ती' रूपमें प्रकट हो जानेपर भी वहाँ शब्द और अर्थ परस्पर सम्मिलित ही रहते हैं। मध्यमामें वाणीके अवतरित होनेपर शब्द और अर्थ विभक्त किन्तु परस्पर सम्बद्ध रूपमें प्रतीत होते हैं।

यही बात सांख्य दर्शनकी प्रक्रियामें भी देखी जा सकती है कि वहाँ 'अव्यक्त' तत्त्वको प्रत्यक्षसे नहीं जाना जा सकता, उससे उत्पन्न होनेवाले 'महान्'में शब्दार्थ परस्पर सम्बद्ध होकर ही रहते हैं, तथा प्रत्येक व्यक्तिमें प्रतिनियत जो अध्यात्म बुद्धि तत्त्व है उसमें विशकलित शब्दार्थोंका स्पष्ट आभास रहता है। यहाँ बुद्धिमें प्रकाशित शब्द और अर्थ दोनों सूक्ष्म ही होते हैं अतः उनका यहाँ तादात्म्य रहता है। कुछ लोग शब्द और अर्थका तादात्म्य माननेवाले मतपर जो यह आक्षेप करते हैं कि अग्नि शब्दका यदि अग्नि पदार्थसे तादात्म्य है तो अग्नि शब्दके उच्चारण करनेपर जिह्वा जल जानी चाहिए। यह आक्षेप भी सूक्ष्म शब्द और अर्थोंके तादात्म्यको स्वीकार करनेपर निरस्त हो जाता है। स्थूल अग्नि ही दाहक होती है, बुद्धिस्थित जो सूक्ष्म अग्नि है वह दाहक नहीं, यह बात वैयाकरणशिरोमणि नागेश भट्टने 'मंजूषा'में स्पष्ट की है। जितना निश्चय मनमें सोचकर किया जाता है वह सारा मध्यमामें ही होता है और मध्यमामें अवस्थित शब्दार्थोंका ही परस्पर संकेतग्रह भी होता है। इसीलिए मूक और बधिर तथा बालकोंको भी स्थूल वाणीके बिना मध्यमामें ही संकेतग्रह वैज्ञानिक प्रक्रियासे करा दिया जाता है। स्फोट वह है कि जिससे अर्थ स्फुटित होता हो। वाणीकी मध्यमा अवस्थामें ही शब्दोंका और उनके अर्थोंका स्पष्ट अवभास होनेसे उसे शब्द दर्शनमें व्यावहारिक स्फोट माना गया है, शब्द सुनते ही तत्काल अर्थपर बुद्धि चली जाती है, इसी प्रकार अर्थ देखते ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके प्रतिपादक बुद्धि स्थित शब्दका अनुसन्धान हो जाता है। इसके अनन्तर अपने विचारोंको दूसरोंके प्रति प्रकट करनेके लिए कण्ठ-तालु आदिके घर्षणसे उत्पन्न होनेवाली वैखरी वाणीका उच्चारण किया जाता है। भगवान् पाणिनिने उसकी प्रक्रियाका इस प्रकार निर्देश किया है –

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागःपञ्चधा स्मृतः॥"

—पाणिनीय शिक्षा

आत्मा अपनी बुद्धिसे अर्थका विचार कर उसे प्रकाशित करनेकी इच्छासे मनको प्रेरित करता है। मन आत्मासे प्रेरित होकर कायाग्नि अर्थात् शरीर की नाभिमें वर्तमान अग्निपर धक्का देता है। अग्निसे वायुको प्रेरणा मिलती है। वायु वहाँसे उठकर तीन स्थानोंमें-से किसी एक स्थानको केन्द्र बनाता है – उर, कण्ठ वा सिर। उरको यदि केन्द्र बनावेगा तो गम्भीर ध्वनि निकलेगी, कण्ठसे मध्यम प्रकारकी, और सिरसे उच्च ध्वनि होती है। आगे वह वायु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें आघात कर वर्णोंको उत्पन्न किया करता है। यह स्थूल प्रक्रिया है। इस प्रक्रियासे उत्पन्न होनेवाले वैखरी वाणीके स्थूल वर्ण श्रोताके कानमें प्रवेश कर उसकी मध्यमा वाणीको प्रबुद्ध करते हैं और वहाँ स्थित वर्णोंको पद, वाक्य आदि-में विभक्त कर व्यंजित करते हैं अतः श्रोताको भी सुने हुए वाक्योंका अर्थबोध मध्यमामें ही होता है। यह मध्यमा वाणी भी सर्वत्र व्यापक है अतः बालक, जड़, मूक, बधिर इत्यादिमें भी प्रयत्नके द्वारा शब्दार्थका ज्ञान करा दिया जाता है। महाभाष्यकार पतंजलिने भी शब्दके इस स्वरूपको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कहा है—

"श्रोत्रोमलाब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः।
आकाशदेशः शब्दः"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार वर्तमानमें वैज्ञानिक वायुको सर्वत्र व्याप्त मानते हुए उसे 'एअर' संज्ञा देते हैं और संयोग या विभागके द्वारा हलचल होनेपर लहरके रूपमें 'विण्ड' कहते हैं; उसी प्रकार वायुकी भी सूक्ष्मावस्था वाक् सर्वत्र व्याप्त है, उसीको आकाश कहा जाता है। इस आकाशमें संयोग-विभागादिके द्वारा क्षोभ होनेपर स्थूल ध्वन्यात्मक शब्दकी उत्पत्ति होती है, यही महाभाष्यमें कहा गया आकाशका प्रयोगसे अभिज्वलन है। चेष्टा आदिसे भी मध्यमामें स्थित शब्द व्यंजित हुआ करते हैं। अनेक कविगण आदि बिना वैखरी वाणीका प्रयोग किये पद्य आदिका निर्माण करते हैं, उसे लिखकर दूसरे मित्रोंको भेजते हैं, पाठक भी उसे पढ़कर बोध प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ वैखरी वाणीका कोई व्यापार नहीं होता, लिपिसंकेतसे मध्यमा वाणीसे ही शब्दबोध हो जाता है। वर्तमान युगकी वैज्ञानिक प्रगतिने तो वैखरी शब्दोंको, जो पृथ्वीके चाहे किसी कोनेमें कहे जायें, रेडियम धातुके माध्यमसे दूसरे कोनेपर सुननेकी सुविधा प्रदान कर दी है – इससे शब्द तत्त्वकी व्यापकता और अधिक स्पष्ट हो गयी है। 'तार' भेजनेमें भी यही बात प्रत्यक्ष है। वह शब्द तत्त्व जो सर्वत्र व्याप्त है उसीमें यन्त्रकी सहायतासे तत्क्षण क्षोभ उत्पन्न कर दिया जाता है। इसीलिए वैसा ही शब्द अन्यत्र भी सुनाई देने लगता है। यहाँ भी बाहरी सुने जानेवाले शब्द मध्यमामें प्रवेश करके ही अर्थ-बोध करानेमें समर्थ होते हैं, यह कहा जा चुका है क्योंकि वैखरी वाणीके वर्ण उच्चारणकालमें ही विनष्ट हो जाते हैं। अतः वाक्यरूप भी नहीं हो पाते। अर्थ-बोधकता केवल वर्णोंमें नहीं वाक्योंमें ही होती है। इसीलिए वैखरीमें वर्णोंका केवल उच्चारण और श्रोताके द्वारा उनका श्रवण ही होता है। उनसे अर्थ-बोध तो तभी होता है जब वे मध्यमामें प्रवेश कर वहाँ संस्कार रूपसे अवस्थित वाणीको जागृत करते हैं।

न्याय दर्शनमें केवल वैखरी वाणीको ही शब्द माना जाता है। यह एक स्थूल दृष्टि है। इसी कारण उच्चारणकालमें ही नष्ट हो जानेका स्वभाव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रखनेवाली वैखरीके द्वारा अर्थ-बोधकी अनुपपत्तिको मिटानेके लिए न्याय सिद्धान्तमें अनेक नवीन कल्पनाएँ देखनेको मिलती हैं। पहले तो कण्ठतालु आदिके अभिघातसे उत्पन्न होनेवाले वर्णोंकी एक क्षण तक आकाशमें स्थिति रहना, उसी क्षणमें एक दूसरे वर्णकी 'शब्दज शब्द'के रूपमें उत्पत्ति और उसका श्रोताकी बुद्धिमें संस्कार उत्पन्न करना, इसके बाद उत्पन्न होनेवाले दूसरे वर्णके द्वारा प्रथम वर्णका विनाश, तथा 'इस प्रकारकी शब्द-धारामें समुत्पन्न अन्तिम वर्णका नाश कैसे होगा' इस शंकाके निवारणार्थ अन्तिम वर्णके पहले वर्णके द्वारा नाशकी कल्पना, इस प्रकार विनष्ट होने-वाले पूर्व-पूर्व वर्णके संस्कारके सहित अन्तिम वर्णके द्वारा पदत्वका ग्रहण, उसके भी विनष्ट हो जानेपर अर्थका ग्रहण, उससे अर्थकी स्मृति होनेपर नष्ट हुए वाक्यमें आकांक्षा आदिके कारण परस्पर सम्बन्ध होना – इस प्रकारकी अनेक न्यायदर्शनकी कल्पनाएँ हमारे ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती हैं। इस न्याय सिद्धान्तमें अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं[1]। इन बातोंका समाधान बिना बुद्धि-स्थित शब्दोंसे सम्बन्ध माने हो ही नहीं सकता। अतः इस सिद्धान्तमें भी मध्यमा वाणीकी सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है और इस प्रकार इच्छा न रहते हुए भी नैयायिकोंको शब्दकी नित्यता

१. जैसा कि उत्पन्न शब्दकी क्षणमात्र स्थिति मानना। 'अपने पैदा' किये हुए उत्तर शब्दसे पुत्रके पिताको मार देनेकी तरह पूर्व शब्दका विनाश और अन्तिम शब्दका अपने पितास्थानीय पूर्व शब्दसे ही विनाश, विनष्ट पदका वर्तमान अर्थके साथ शक्तिग्रह, वाक्यमें स्थित विनष्ट पदोंका आकांक्षादिके कारण परस्पर संकेत- ग्रह, इत्यादि सब अनर्गल कल्पनाएँ हैं। शब्दान्तरको उत्पन्न करनेके लिए क्षणमात्र शब्दकी स्थिति आवश्यक है, यह भी अपने शास्त्रकी परिभाषाके अनुसार निर्मूल कल्पना है। वस्तुतः शब्द किसी शब्दान्तरको उत्पन्न नहीं करता, वह स्वयं ही शब्दान्तरके रूपमें परिणत होता है। जैसा कि योग दर्शनमें कहा गया है और अनुभवसिद्ध भी है कि—"प्रतिक्षण परिणामिनो हि सर्वेऽपि भावाः ऋते चितिशक्तेः" अर्थात् चैतन्य सत्ताको छोड़कर संसारके सब पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
स्वीकार करनी ही पड़ती है। इतनी सब कल्पना करनेपर भी न्याय सिद्धान्तमें रेडियोके द्वारा दूर देश-स्थित शब्दका दूर देशमें श्रवण होना, तथा मूक-बधिर आदिको भी शिक्षित करना आदि शंकाओंका कोई युक्ति-युक्त समाधान नहीं होता। यही बात वर्णोंकी अनित्यता माननेवाले मीमांसकोंके मतमें भी है। बुद्धि-स्थित बौद्ध पदार्थकी सत्ताका नागेश भट्टने 'मंजूषा' में विस्तारके साथ प्रतिपादन किया है।

इसलिए 'पश्यन्ती' में अविभक्त रूपसे अवस्थित तथा मध्यमामें विभाग रूपसे स्थित बुद्धिनिष्ठ शब्दों और अर्थोंका ही परस्पर सम्बन्ध गृहीत होता है और वहीं स्फोट रूपसे रहनेवाले शब्दसे अर्थका बोध होता है, अतः स्फोटके विस्फोटकी कल्पना करनेवाले लोगोंकी दृष्टि अत्यन्त स्थूल है यह बात इस लघु निबन्धमें संस्कृत 'शब्दशास्त्र'के सिद्धान्तके प्रकाशमें हमने देखी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शांकर सिद्धान्त : आक्षेप और उत्तर

वाचस्पति मिश्र सभी दर्शनोंके मार्मिक विद्वान् थे। उन्होंने परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले सभी दर्शनोंपर व्याख्या लिखी पर जब जिसपर क़लम उठायी तब उसी दर्शनके मतोंको अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। प्रायः देखा जाता है कि व्याख्याकार अपने पूर्वाग्रहोंके वशीभूत होकर ग्रन्थकारके अपनेसे विरुद्ध मतोंका विरोध प्रदर्शित कर देते हैं। परन्तु वाचस्पति मिश्रमें यह बात कहीं भी देखनेको नहीं मिलेगी।

कुछ महानुभाव इस विषयमें विमति रखते हैं, वाचस्पति मिश्रने वेदान्त दर्शनमें कुछ नये सिद्धान्त प्रकाशित किये हैं, ऐसा उनका मत है। वैयाकरणशिरोमणि नागेश इस आलोचनामें अग्रगण्य हैं। अपनी 'वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमंजूषा' के स्फोटवाद प्रकरणमें बौद्ध पदार्थका निरूपण करते हुए उन्होंने यह दिखानेकी चेष्टा की है कि "भाव-रूप अविद्या" और "अनिर्वचनीय ख्याति" ये दो बातें जो कि वेदान्त दर्शनके सूत्र और भाष्योंमें नहीं देखी जातीं केवल वाचस्पति मिश्रकी अपनी कल्पना है, ऐसा उन्होंने व्यंजनासे भी ध्वनित किया है और स्पष्ट शब्दोंमें भी कहा है। वस्तुतः यह नागेश भट्टकी अपनी ही असाधारण लेखशैली है कि जब जिस ग्रन्थकी व्याख्या उन्होंने लिखी है तब उस ग्रन्थमें प्रतिपादित सिद्धान्तों-का खण्डन अवश्य किया है। इस प्रकार वाचस्पतिमें भी उन्होंने अपनी ही बुद्धिका ही प्रतिबिम्ब देखा है। इस लघु निबन्धमें हम इसी बातपर संक्षेपसे विचार प्रस्तुत करेंगे कि क्या वास्तवमें वाचस्पति मिश्रके ग्रन्थमें पूर्वाचार्यों-से विरोध हुआ है या नागेश भट्टने अस्थानमें यह आरोप किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वीकार करनी ही पड़ती है। इतनी सब कल्पना करनेपर भी न्याय सिद्धान्तमें रेडियोके द्वारा दूर देश-स्थित शब्दका दूर देशमें श्रवण होना, तथा मूक-बधिर आदिको भी शिक्षित करना आदि शंकाओंका कोई युक्ति-युक्त समाधान नहीं होता। यही बात वर्णोंकी अनित्यता माननेवाले मीमांसकोंके मतमें भी है। बुद्धि-स्थित बौद्ध पदार्थकी सत्ताका नागेश भट्टने 'मंजूषा' में विस्तारके साथ प्रतिपादन किया है।

इसलिए 'पश्यन्ती' में अविभक्त रूपसे अवस्थित तथा मध्यमामें विभाग रूपसे स्थित बुद्धिनिष्ठ शब्दों और अर्थोंका ही परस्पर सम्बन्ध गृहीत होता है और वहीं स्फोट रूपसे रहनेवाले शब्दसे अर्थका बोध होता है, अतः स्फोटके विस्फोटकी कल्पना करनेवाले लोगोंकी दृष्टि अत्यन्त स्थूल है यह बात इस लघु निबन्धमें संस्कृत 'शब्दशास्त्र'के सिद्धान्तके प्रकाशमें हमने देखी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शांकर सिद्धान्त : आक्षेप और उत्तर

वाचस्पति मिश्र सभी दर्शनोंके मार्मिक विद्वान् थे। उन्होंने परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले सभी दर्शनोंपर व्याख्या लिखी पर जब जिसपर क़लम उठायी तब उसी दर्शनके मतोंको अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। प्रायः देखा जाता है कि व्याख्याकार अपने पूर्वाग्रहोंके वशीभूत होकर ग्रन्थकारके अपनेसे विरुद्ध मतोंका विरोध प्रदर्शित कर देते हैं। परन्तु वाचस्पति मिश्रमें यह बात कहीं भी देखनेको नहीं मिलेगी।

कुछ महानुभाव इस विषयमें विमति रखते हैं, वाचस्पति मिश्रने वेदान्त दर्शनमें कुछ नये सिद्धान्त प्रकाशित किये हैं, ऐसा उनका मत है। वैयाकरणशिरोमणि नागेश इस आलोचनामें अग्रगण्य हैं। अपनी 'वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमंजूषा' के स्फोटवाद प्रकरणमें बौद्ध पदार्थका निरूपण करते हुए उन्होंने यह दिखानेकी चेष्टा की है कि "भाव-रूप अविद्या" और "अनिर्वचनीय ख्याति" ये दो बातें जो कि वेदान्त दर्शनके सूत्र और भाष्योंमें नहीं देखी जातीं केवल वाचस्पति मिश्रकी अपनी कल्पना है, ऐसा उन्होंने व्यंजनासे भी ध्वनित किया है और स्पष्ट शब्दोंमें भी कहा है। वस्तुतः यह नागेश भट्टकी अपनी ही असाधारण लेखशैली है कि जब जिस ग्रन्थकी व्याख्या उन्होंने लिखी है तब उस ग्रन्थमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका खण्डन अवश्य किया है। इस प्रकार वाचस्पतिमें भी उन्होंने अपनी ही बुद्धिका ही प्रतिबिम्ब देखा है। इस लघु निबन्धमें हम इसी बातपर संक्षेपसे विचार प्रस्तुत करेंगे कि क्या वास्तवमें वाचस्पति मिश्रके ग्रन्थमें पूर्वाचार्योंसे विरोध हुआ है या नागेश भट्टने अस्थानमें यह आरोप किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रारम्भमें 'अविद्या' के स्वरूपपर ही विचार किया जाये। 'अविद्या' और 'अज्ञान' पर्याय शब्द हैं। यह अज्ञान केवल ज्ञानके अभावका ही बोधक नहीं है अपितु शांकर सिद्धान्तके ग्रन्थोंमें युक्ति और प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दिया गया है कि यह भावरूप है। "मैं अज्ञ हूँ", "मैं इस विषयको नहीं जानता" इत्यादि वास्तविक अनुभव सभोको होता है और यही अज्ञानके भावरूप होनेमें प्रमुख प्रमाण है। इस प्रकारके अनुभव केवल अभावरूप नहीं हो सकते क्योंकि अभाव ज्ञानमें जिस वस्तुके अभावका ज्ञान होता है उस वस्तुके स्वरूपका परिचय भी अभावके ज्ञाताके लिए अनिवार्य है, अभाव ज्ञानके समय उस वस्तुके स्वरूपका ज्ञान भी अवश्य होना चाहिए अन्यथा अभावका ज्ञान निरवलम्ब हो जायेगा और निरवलम्ब ज्ञान अनुभवविरुद्ध है। इस दोषके निराकरणके लिए यदि यह कहा जाये कि उस वस्तुका ज्ञान भी ज्ञाताको है तब तो उसके अभावका ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक ही वस्तु ज्ञात और अज्ञात दोनों परस्पर विरुद्धरूपोंसे एक ही प्रमातामें साथ-साथ नहीं रह सकतीं। और यदि जिस वस्तुके अभावका ज्ञान हो रहा है उस वस्तुकी बुद्धिमें कोई सत्ता न मानी जाये तो प्रश्न यह होगा कि अभाव ज्ञानका कारण प्रतियोगी वस्तुका ज्ञान है, जब उस वस्तुका ज्ञानके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं तब उससे उत्पन्न होनेवाले अभावका ज्ञान कैसे सम्भव है, क्योंकि कारणके बिना तो कार्य होता नहीं।

यदि यह कहा जाये कि सामान्य रूपसे वस्तुका ज्ञान है परन्तु विशेष रूपसे उसका अभाव गृहीत होता है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं होगा, क्योंकि वस्तुके विशेष रूपका यदि अभाव ज्ञान है तो वह ज्ञान भी वस्तुके विशेष ज्ञानके बिना सम्भव नहीं है इस बातका अनेक ग्रन्थोंमें प्रतिपादन हुआ है। अज्ञानकी भावरूपता सिद्ध करनेके लिए अनुमान प्रमाणका भी अनेक ग्रन्थोंमें आश्रय लिया गया है, उस नये विवादको हम यहाँ उठाना नहीं चाहते। सांख्यदर्शन और योगदर्शनके आचार्योंने भी अविद्या-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
को भावरूप तो माना है परन्तु उनकी और वेदान्तोकी भावरूपतामें कुछ भेद है। सांख्य और योगमें अन्यथा ज्ञान और उनके संस्कारोंको अविद्या कहा गया है, वे विद्याके विरोधी ज्ञानको अविद्या कहते हैं इस सिद्धान्तमें अविद्या भी एक ज्ञान ही निश्चित होती है। वेदान्तमें तो समस्त संसारका मूल कारण, ईश्वरकी आत्मस्वरूप एक शक्ति है जिसे माया कहा गया है जिसका कि स्वरूप अत्यन्त विलक्षण होनेके कारण निश्चित नहीं किया जा सकता और जो सत्ता या असत्ता रूपसे भी स्पष्ट नहीं की जा सकती, उसीको भावरूप—अविद्या कहा गया है, यही सांख्य और योग तथा वेदान्त-के मतोंकी इस विषयमें विलक्षणता है। सांख्य और योगमें भी कहीं-कहीं वेदान्तकी अविद्याको ध्वनित किया गया है। इस विचारधाराके अनुसार जब हम माया या प्रकृतिको अविद्या मानते हैं तब इस विषयमें किसीको कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वह प्रकृति समस्त जगत्को मूल और भाव-रूप (सत्तावाली) है।

वेदान्त दर्शनमें तो वाचस्पतिसे भी प्राचीन आचार्योंने इस प्रकारकी विद्या तथा अविद्याका स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है। श्री पद्मपादाचार्यने "अध्यास भाष्य" के आरम्भमें पंचपादिकामें मिथ्याज्ञान और उसके संस्कारोंके अतिरिक्त अनिर्वचनीय अविद्याको स्पष्ट अक्षरोंमें स्वीकार किया है तथा सीपीमें अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्तिको उन्होंने उदाहरण बनाया है। अब यह सोचनेकी बात है कि जगद्गुरु श्री शंकराचार्यके साक्षात् शिष्य श्री पद्मपादाचार्यने उनके मुखसे अध्ययन करके भावरूपा अविद्या और अनिर्वचनीय ख्यातिको स्पष्ट लिख दिया है, पद्मपादाचार्यका समय वाच-स्पति मिश्रसे बहुत पहलेका है, अपने गुरुसे उन्होंने यह सिद्धान्त जाना एतावता उनके सिद्धान्त आचार्य शंकरके ही सिद्धान्त हैं। तब केवल श्री नागेश भट्टके कथन मात्रसे यह कैसे समझ लिया जाय कि वाचस्पतिने ही वेदान्त दर्शनमें 'भावरूपा अविद्या' और 'अनिर्वचनीय ख्याति' को प्रारम्भ किया है। मंजूषामें श्री नागेश भट्टने वाचस्पतिके विषयमें जो उपर्युक्त बात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कही है उसे उन्होंने 'कल्पतरु' ग्रन्थके उद्धरणसे सिद्ध किया है। कल्पतरुका मंजूषामें उद्धृत श्लोक है –

"भ्रमात्संस्कारतोऽप्यन्यमण्डूकमृदुदाहृतेः ।
अविद्याऽनादिभावात्मा मता वाचस्पतेरिह ॥

"यहाँ भावरूपा अविद्या वाचस्पतिको अभिमत है यह प्रतिपादन हुआ है इससे यह ध्वनित हुआ कि यह विषय वाचस्पतिने ही लिखा है, वेदान्तके प्राचीन आचार्योंको यह विषय अभिमत नहीं। तथा वाचस्पतिने भी इस बातको इसी देवताधिकरणमें ही स्वीकार किया है अन्यत्र नहीं" यह श्री नागेश भट्टने इस श्लोकका आशय निकाला है। जैसे वर्षा होनेपर मेढक मिट्टीके अन्दर पंकमें दब जाते हैं और वर्षा बीतनेपर उस मिट्टीमें-से निकल पड़ते हैं, उसी प्रकार प्रलयावस्थामें वासना समूह रूप अविद्यामें सारा संसार दबा रहता है और सृष्टि अवस्थामें उस वासना समूह रूप अविद्यासे वह निकलता है।

यहाँ यह विचारणीय है कि सूत्रकार भगवान् व्यास और भाष्यकार श्री शंकराचार्यको अविद्याका क्या स्वरूप अभिमत है। भाष्यके आरम्भमें "मिथ्याज्ञान-निमित्त" इस पदसे "भावरूप" अविद्या ही अज्ञान शब्दका अर्थ है यह पद्मपादाचार्यके व्याख्यानके आधारपर ऊपर कहा ही जा चुका है। आगे स्पष्टरूपसे भाष्यकारने भावरूप अविद्याको स्वीकार किया है इसके कुछ उदाहरण देखिए। प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके आरम्भमें अनुमानिक अधिकरणमें –

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्नपरं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

इस कठश्रुतिमें अव्यक्त शब्दसे सांख्यकी प्रकृतिका ग्रहण नहीं है अपितु 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' इत्यादिसे वहींपर पहले रथका जो रूपक कहा गया है, उसमें निर्दिष्ट शरीर ही यहाँ अव्यक्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दसे गृहीत है। क्योंकि रथके रूपकमें आयी हुई आत्मा आदि अन्य सभी वस्तुएँ यहाँ भी समान ही हैं। केवल शरीरका ग्रहण नहीं हुआ है, अतः पूर्व समन्वयकी दृष्टिसे यहाँ अव्यक्त शब्दसे शरीरका ही ग्रहण करना उचित है, इस बातको प्रथम सूत्रसे कहकर आगे शरीर तो व्यक्त है – उसका अव्यक्त शब्दसे कैसे ग्रहण हो, इस शंकाको दूर करनेके लिए 'सूक्ष्मस्तु तदर्हत्वाद्' इस दूसरे सूत्रका आरम्भ किया गया है। शरीर आदि समस्त प्रपंचका मूल कारण जो सूक्ष्म तत्त्व है उसीको श्रुतिने अव्यक्त कहा है। और कारण तथा कार्य परस्पर अभिन्न माने जाते हैं – अतः शरीरको भी अव्यक्त कह दिया गया है। इस शंकाको भी कोई अवकाश नहीं रह जाता कि शरीरादिकी सूक्ष्म पूर्णावस्था स्वीकृत कर लेनेपर दूसरे शब्दोंमें सांख्यकी प्रकृतिको ही स्वीकार कर लिया गया है। क्योंकि इसके उत्तरके लिए आगे तृतीय सूत्र है –

'तदधीनत्वादर्थवत्'

यहाँ 'तत्' शब्दसे सम्पूर्ण जगत्का मूल तत्त्व ब्रह्म ही गृहीत होता है। अतः यद्यपि जगत्की पूर्वावस्थाको सूक्ष्म रूपसे हमने स्वीकार किया परन्तु वह सांख्यकी तरह स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ब्रह्मके अधीन है। उसीकी सत्तासे स्थितिमती है, और उसीकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति होती है। यही सांख्यकी अपेक्षा वेदान्तमें बहुत बड़ी विलक्षणता है। इस अवस्थाको स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा ब्रह्मके परिणामशून्य होनेसे तथा किसी भी दूसरे तत्त्वका अभाव होनेसे जगत्की उत्पत्तिका प्रश्न ही नहीं रह जायेगा। यहाँ सूत्रकारने शरीरादि जगत्की परमात्माके अधीन जो सूक्ष्म प्रागवस्था स्वीकृत की है उसीको भावरूप अविद्या भी कहते हैं। विद्या शब्दसे सत्यरूप ज्ञानात्मक अनन्त ब्रह्मका ही प्रतिपादन होता है। वह उस ब्रह्मसे विलक्षण है, और उसको आवृत्त कर देनेके कारण उससे विरुद्ध धर्म भी रखती है इसीलिए उसका नाम अविद्या रखा गया है। वह अवश्य ही भावरूपा है। क्योंकि 'कथमसत् संजायेत' – इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रुतियोंके द्वारा जगत्का उत्पादक तत्त्व अभावरूप है – इस बातका स्पष्ट खण्डन कर दिया गया है। उस अवस्थाको हम भ्रमरूप भी नहीं कह सके, क्योंकि भ्रम एक वृत्तिरूप ज्ञान है। वह ज्ञान किसी पदार्थके आधारपर ही रह सकता है। जगत्की उत्पत्तिसे पहले जब किसी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, तब वह वृत्तिरूप ज्ञान कहाँ रहेगा। अन्तःकरण आदिकी सत्ता भी जगत्के अभावमें उस समय नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार आगे अनेक युक्तियाँ देकर सूत्रकारने भावरूप अविद्याको सिद्ध किया है। भाष्यकार भी सूत्रकारकी ही भाँति इस विषयमें कोई सन्देह नहीं छोड़ते। दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें तो उन्होंने श्रुतिको भी उद्धृत किया है –

'तद्ध्येदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्।'

तृतीय सूत्रके व्याख्यानमें शंकराचार्य लिखते हैं : 'अविद्यात्मक बीज-शक्ति जो कि अव्यक्त शब्दके द्वारा निर्देश्य है, और जो परमेश्वरके आश्रित है, जो मायामयी है, जो महासुप्ति है, जिसमें स्वरूपज्ञानसे रहित सारे संसारके जीवन शयन करते हैं आगे वही शक्ति आकाश, अक्षर, भाषा, अव्यक्त आदि विभिन्न शब्दोंसे श्रुतियोंमें कही गयी है, यह भी शंकराचार्यने माना है। यहाँ वह परमेश्वराश्रित है, अतः जीवाश्रित वासनासे वह विलक्षण है और जीव भी वहाँ शयन करते हैं – इस कथनसे उसकी भ्रमात्मक संस्कार रूपताका समूल खण्डन कर दिया गया है। अब श्री नागेश भट्ट महाशय इससे भी ज़्यादा भाष्यकारके मुखसे अविद्याकी भावरूपताको और क्या सुनना चाहते हैं ?

द्वितीय अध्यायमें भाष्यकार कहते हैं कि 'सर्वज्ञ ईश्वरके आत्मरूपके समान अविद्याके द्वारा कल्पित जो नाम और रूप हैं, जिनको हम ईश्वर-का रूप भी नहीं कह सकते और उससे पृथक् भी नहीं कह सकते। अतएव जो इन शब्दोंसे अनिर्वचनीय है उन संसार प्रपंचके बीजभूत नाम रूपादिको सर्वज्ञ ईश्वरकी माया-शक्ति तथा प्रकृति आदि नामोंसे श्रुति तथा स्मृतिमें कहा गया है।'' यहाँ भी अविद्याका माया और प्रकृति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्दोंसे व्याख्यान करते हुए भाष्यकारने ईश्वरकी आत्मभूतता उसकी शक्तिरूपता और उसकी अनिर्वचनीयताका प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि वह अविद्या भ्रम और संस्कारसे सर्वथा पृथक् है। भ्रम या संस्कार ईश्वरके आत्मरूप या उसके शक्तिरूप नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ईश्वरमें भ्रम मानना किसीको भी अभिमत नहीं है। श्री नागेश भट्ट महाशय तो इस भाष्यको मंजूषामें उद्धृत करते हुए भी 'ईश्वरकी आत्म-भूत' – इस शब्दका आशय 'ईश्वरके आत्मरूपसे आरोपित' यही लगाते हैं। क्या जीवस्थित भ्रम और संस्कारोंका ईश्वरपर भी आरोप सम्भव है? यह आरोप किसके द्वारा किया गया है? जीवके भ्रम और संस्कार ईश्वरकी शक्ति कैसे बन गये? श्री शंकराचार्यने अविद्याको जो ईश्वरकी उपाधि बतलाया है वह क्या इन्हीं जीवगत भ्रम-संस्कारोंको बतलाया है? आग्रहसे गुरु होनेके कारण इन सब बातोंका विचार कौन करे? वह तो भगवान्‌की बड़ी कृपा थी कि श्री नागेश भट्टके मनमें शंकराचार्यके भाष्य-पर व्याख्या लिखनेका विचार नहीं आया। यदि ऐसा होता तो सारा ही शारीरक-भाष्य इसी प्रकारकी विलक्षण व्याख्याओंसे अस्त-व्यस्त हो जाता।

अस्तु, हमारा यहाँ यही दिखलानेका अभिप्राय था कि अविद्याके जिस स्वरूपको भी वाचस्पति मिश्रने स्वीकार किया है, सूत्रकार और भाष्यकार-को भी वही अभिमत है। आगे भाष्यकारने अनेकत्र शक्ति शब्दसे ही अविद्याका व्यवहार किया है और वासनारूप अविद्याको शक्ति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रलयावस्थामें समस्त वासनाओंका लय हो जाता है और शक्ति लयावस्थामें भी ईश्वरके साथ विद्यमान रहती है। दूसरी बात यह है कि वह शक्ति एकरूपिणी है, और पृथक्-पृथक् जीवोंकी वासनाएँ मिलकर एकरूपिणी बन जावेंगी इस बातको कोई विचारक कैसे स्वीकार करेगा? अविद्या दो प्रकारकी वेदान्त-शास्त्रमें मानी गयी हैं – एक मूला विद्या और दूसरी तूला विद्या। मूला विद्यामें जो कि ईश्वरकी शक्तिरूपा है, उसमें सत्त्व, रज, तम ये स्वगत भेद होते हुए भी अन्य भेदोंकी दृष्टिसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे एकरूप ही भाष्यकारने माना है। प्रत्येक जीवनमें भिन्न-भिन्न रूपसे अवस्थित जिस अविद्याका वाचस्पति मिश्रने प्रतिपादन किया है – वह तूला विद्या है। उसको वासनारूप भी कहा जा सकता है। माया, शक्ति, प्रकृति आदि शब्द मूला विद्याके ही बोधक हैं। "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" – "स्वभावस्तु प्रवर्तते" – इत्यादि गीता-पद्योंके भाष्यमें शंकराचार्यने मूलाविद्याकी भावरूपताका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। कहाँतक उदाहरण दें। वेदान्त-सूत्रकार और भाष्यकारके सिद्धान्त इस प्रकारकी अविद्याको स्वीकार किये बिना समझमें नहीं आ सकते। जिस कल्पतरुकारने स्थान-स्थानपर इस मूलाविद्याका व्याख्यान किया है, वह यह कैसे कह सकते हैं कि अविद्याका यह रूप केवल वाचस्पतिको ही अभिमत है, और किसीको नहीं। "अविद्या भावरूपा सा मता वाचस्पतेरिह" – इस कारिकाका आशय इतना ही है कि अविद्याका जो रूप हमने (कल्पतरुकारने) स्थान-स्थानपर स्पष्ट किया है – वह केवल हमारी ही कल्पना नहीं है, अपितु वाचस्पति मिश्रने भी यहाँ उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। वाचस्पतिके मंगलाचारण पद्यकी व्याख्या करते समय जिस कल्पतरुकारने प्रसंगरूपसे अविद्याका निरूपण देवताधिकरणमें किया है, वह यह कैसे कहेगा कि केवल वाचस्पतिने अविद्याकी भावरूपता मानी है। कल्पतरुके अनुसार मंगलपद्यमें ही जो वाचस्पति भावरूप अविद्याको मनमें रखकर ग्रन्थका आरम्भ कर रहे हैं – वे किसी स्थान-विशेष-मात्रमें वैसा कैसे मानेंगे, इसपर विद्वान् लोग विचार करें। इस अनिर्वचनीया अविद्याका वाचस्पतिने अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है और कल्पतरुने उसकी व्याख्या की है यह उन ग्रन्थोंके परिशीलनकर्ताओंसे छिपा नहीं है। देवताधिकरणमें वाचस्पतिने लिखा है कि – "यद्यपि महाप्रलयमें अन्तःकरणकी आदिवृत्तियाँ सक्रिय नहीं हैं, परन्तु उस समय वे अपनी कारण अनिर्वचनीय अविद्यामें लीन होकर सूक्ष्म शक्तिरूपमें कर्मविक्षेपक अविद्या वासनाओंके साथ स्थित रहती हैं। अवधि समाप्त होनेपर पर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
मेश्वरकी इच्छासे अन्तःकरणकी वे वृत्तियाँ उस अविद्यासे उसी प्रकार अपने उन्हीं नाम-रूपोंके साथ निकल पड़ती हैं जैसे कछुएके शरीरमें छिपे हुए उसके अंग निकल पड़ते हैं अथवा जैसे वर्षाकालमें कीचड़में लीन हो जानेवाले मेढक वर्षा बीतनेपर मिट्टी झाड़कर निकल पड़ते हैं।" पाठक देखेंगे कि जैसे अन्यत्र प्रासंगिक स्थलोंपर वाचस्पतिने 'अनिर्वचनीय' अविद्या आदि शब्दोंका प्रयोग किया है वैसा ही यहाँ भी किया है। ऐसी कोई विशेषता यहाँ नहीं दिखलाई देती जिससे हम यह समझ सकें कि वाचस्पतिने यही भावरूप अविद्याको सिद्ध करनेमें कोई विशेष अभिनिवेशसे काम लिया है और अन्यत्र वैसा नहीं किया। केवल वासनासहित अन्तः-करणोंका मूल अविद्यामें लय होना यहाँ वाचस्पतिने स्पष्ट अक्षरोंमें लिख दिया है, इसीलिए कल्पतरुकारने अपनी व्याख्यामें यह स्पष्ट कर दिया कि वासनाओंके अतिरिक्त अविद्याका स्वरूप यहाँ बिलकुल स्पष्ट हो गया है। हमने पहले अविद्याके स्वरूपका परिचय देते हुए भाष्यकी जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—"यस्यां स्वरूपबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः" इसके आशयके अतिरिक्त ऐसी कौन-सी बात यहाँ वाचस्पतिने लिखी है जिससे उनके सूत्र और भाष्यके अनुरूप न होनेकी बात समझी जाये। भाष्यकारने अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्यात्मक जीवोंका अविद्यामें शयन कहा है और वाचस्पतिने वासनासहित अन्तःकरणोंका सूक्ष्म अवस्थारूप लय अविद्यामें बतलाया है, यह केवल भाष्यके अक्षरोंका स्पष्टीकरण मात्र है जो कि टीकाकारके कर्तव्यका सुचारु निर्वाह है।

मृत्तिका और मेढकके दृष्टान्तको भी जो श्री नागेश भट्टने दूसरी तरहसे लगाया है कि वासनासमूह ही अविद्या है और उसीमें-से जीव उसी प्रकार निकलते हैं जिस प्रकार वर्षा बीतनेपर मिट्टीसे मेंढक, इसपर यह विचार करना है कि वासनाके इस समूहमें जिनका यह वासनासमूह है उन प्रत्येकका भेद स्पष्ट है कि नहीं, यह वासनासमूह प्रत्येक वासनासे अतिरिक्त है या तद्रूप ही है। यदि इसमें अवयवोंका भेद नहीं है और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह प्रत्येक जीवकी वासनाओंसे अतिरिक्त है तब तो वाचस्पतिके द्वारा कथित मूलाविद्या आपने भी स्वीकार कर ही ली। नाम मात्रमें भेद रहा। और यदि जीवगत वासनाओंका इस सामूहिक वासनासे भी भेद सिद्ध है और यह तद्रूप ही है तब वेदान्तके अनुसार महाप्रलयमें जब सब कुछ प्रलीन हो जाता है तब वह वासनासमूह कैसे रहेगा। प्रत्येक जीवकी वासनाके लीन हो जानेपर भी वासनासमूह लीन नहीं होगा ऐसा कहना तो एक विचित्र ही मार्ग है। जब अन्तःकरण प्रलीन हो जाते हैं तो वासनाएँ किस आधारपर रहेंगी, और निराश्रय होनेपर उनका नाम वासना कैसे होगा, इन सब प्रश्नोंपर आग्रहवश उनका ध्यान नहीं गया।

नागेश भट्टकी ही यह भी शैली है कि वे कहीं किसी सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं और आगे उसके विपरीत सिद्धान्तको ही ले लेते हैं। अपनी ही इस शैलीका प्रतिबिम्ब उन्होंने वाचस्पतिमें भी देख लिया। 'अविद्या' के विषयमें ही देखिए। स्फोटके निरूपणके प्रारम्भमें सृष्टि-प्रक्रियाका विवरण देते हुए नागेश भट्टने लिखा है कि – 'प्राणियोंके कर्मके परिपाक होनेपर भगवान्की अबुद्धिपूर्वक सृष्टि माया और पुरुषका आविर्भाव होता है। उसके अनन्तर सृष्टिकी इच्छावाली मायावृत्ति प्रादुर्भूत होती है, उसके अनन्तर त्रिगुण रूप अव्यक्त बिन्दु होता है। इसीको शक्तितत्त्व कहा जाता है। बिन्दुका अचित् अंश बीज है। चित् और अचित्का मिश्रित अंश नाद है, चिदंश बिन्दु है। अचित् ही शब्द और अर्थ दोनोंकी संस्काररूप अविद्या है।" इत्यादि।

वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक सिद्धान्तोंके मिश्रणसे भट्ट महोदयने इस सृष्टि-प्रक्रियाका आविर्भाव किया है। यहाँ आगम-शास्त्रसे कितना अंश मिलता है और कितना उसके विरुद्ध पड़ता है इस विचारमें हम विस्तार भयसे और अप्रकृत होनेसे नहीं जाना चाहते। यहाँ शब्द और अर्थकी संस्काररूप अविद्याके आविर्भावके पहले त्रिगुणात्म, बिन्दुरूप अव्यक्त शक्ति तत्त्वका जो आविर्भाव कहा गया और उससे भी पहले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वारम्भमें मायाका जो आविर्भाव कहा गया है उसीको शंकराचार्य और वाचस्पतिने मूलाविद्या बतलाया है। आत्मा जो विद्यारूप है उससे विलक्षण होनेके कारण ही वहाँ 'अविद्या' शब्द दिया गया है।

मंजूषामें उससे कुछ पहले ही नागेशने लिखा है कि – "माया चेतन ईश्वरमें लीन होती है, मायाका ईश्वरमें यह लय उसका अत्यन्त विनाश हो जाना नहीं है क्योंकि ऐसा हो जानेपर आगेको सृष्टिका आधार क्या होगा, यह लय उसके ज्ञानका सर्वथा अभाव भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस वस्तुके केवल ज्ञानमें ही सत्ता है, उसके ज्ञानके अभावका अर्थ उस वस्तुका अभाव ही होगा। इन पंक्तियोंमें श्री नागेशने माया या अविद्याकी अनिर्वचनीयताको स्पष्ट स्वीकार किया है। सीपीमें जो भ्रमसे चाँदीका ज्ञान है वह वास्तविक नहीं भ्रम मात्र है, उतने ही समयके लिए चाँदी वहाँ है जबतक सीपीका ज्ञान न हो जाये इसीको चाँदीका सीपीमें प्रतिभास कहते हैं, प्रतिभासके अभावमें चाँदी विनष्ट हो जायेगी यह प्रतिभासका स्वरूप नागेशने भी माना है और प्रातिभासिक पदार्थोंकी सत्ता भी स्वीकार की है। परन्तु आगे चलकर अविद्या या अनिर्वचनीय मायाका और अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्तिका स्पष्ट रूपसे खण्डन भी उन्होंने किया है – इसको हम उनका व्यामोह समझें या पूर्वापर विरुद्ध कथन समझें ?

त्रिगुणा चैतन्यात्मनि
सर्वगतेऽवस्थितेऽखिलाधारे।
कुरुते सृष्टिमविद्या
सर्वात्मा स्पृश्यते तया नात्मा ॥

प्रपंच सारके इस श्लोकको उद्धृत करके भी वहाँ प्रकृतिके बोधक त्रिगुण शब्दका और उसके सर्वगत आधार परमात्माका अपने कल्पित अर्थमें समन्वय कर इस पद्यको अन्यथा ही लगा दिया है।

पुराणोंमें भी सर्वत्र निर्गुण परिणाम-रहित ब्रह्मसे सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गयी यह प्रश्न उठाकर –

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः ।

अर्थात् समस्त पदार्थोंमें एक अचिन्त्य और अनुभव संवेद्य शक्ति होती है, वही ब्रह्ममें भी है और उसीसे सृष्टिका निर्माण होता है – इत्यादि कहकर शक्तिकी सत्ता स्वीकार की गयी है ।

न सती सा नासती सा

इत्यादि देवीभागवत और भगवती गीतामें भी उस शक्तिके स्वरूपको अनिवर्चनीय कहा गया है । नागेश भट्ट महोदयने इसका समानार्थक

नासद्रूपा न सद्रूपा

इस बृहन्नारदीय पुराणके श्लोकको उद्धृत कर – "क्या वह सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण है, नहीं ऐसा नहीं, वह मिथ्या है, क्योंकि वह केवल प्रतीत मात्र होती है, वह सनातन भ्रम परम्पराकी वासना रूप है' ऐसा व्याख्यान किया है । सोचनेकी बात है कि प्रतीत मात्र (प्रतिभास मात्र) होना ही शक्तिकी सत् और असत्से विलक्षणता है । जब उसकी प्रतीतमात्र होनेकी बात मान ली गयी तब सत् और असत् इन दोनों रूपोंसे उसकी विलक्षणता सिद्ध करनेका प्रयास किसलिए ? देवी भागवत-में 'अतो विलक्षणा काचित्' में स्पष्ट रूपसे जो उसे विलक्षण कह दिया गया है, उसे कैसे हटा दिया गया । वासना जो कि कर्मोंसे उत्पन्न होने-वाला संस्कार है उसे मीमांसामें 'अपूर्व' शब्दसे और न्यायमें 'अदृष्ट' शब्दसे कहा गया है । विद्या या ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला संस्कार भी कहीं 'भावना' शब्दसे और कहीं 'वासना' शब्दसे कहा गया है उन दोनों प्रकारके संस्कारों या वासनाकी स्थिति फल देने तक या स्मृति आदिके उत्पन्न होने तक ही मानी गयी है । वह वासना केवल प्रतीत मात्र होती है और वह सत् नहीं है यह कैसे समझा जाये ।

यहाँतक हमने पारिभाषिक 'अविद्या' पर विचार किया ।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाल्लभ दर्शनमें मायाका स्वरूप

श्री वल्लभाचार्यका सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है। इस शुद्धाद्वैत शब्दका अर्थ है कि उस सम्प्रदायमें मूलतत्त्व एकमात्र परब्रह्म-को ही माना जाता है। श्री शंकराचार्यके सिद्धान्तमें जिस प्रकार परब्रह्मके साथ एक अनिर्वचनीय माया शक्ति मान ली गयी है उस प्रकार उस माया शक्तिको भी उस सम्प्रदायमें अनादि नहीं कहते। उसका भी पर-ब्रह्मसे ही प्रकट होना माना जाता है। यद्यपि उपनिषदोंमें शक्ति या मायाका परब्रह्मसे प्रकट होना नहीं मिलता। पुराणोंमें भी बहुधा शक्तिको भी परब्रह्मकी सहचारिणी ही माना गया है। तथापि कहीं-कहीं विष्णु-पुराण आदिमें शक्ति या प्रकृतिका भी विष्णु नामक परब्रह्मसे उत्पन्न होना कहा है। और विशेषतः आगम-शास्त्र तो परमशिवसे ही शक्तिका प्रादुर्भाव मानते हैं। उस आगम-शास्त्रके आधारपर ही श्री वल्लभाचार्यने मूलतत्त्व परब्रह्मसे ही आगे शक्ति या मायाका प्रकट होना कहा है। अस्तु, इस मायाके इस सम्प्रदायमें तीन भेद माने जाते हैं। एक परब्रह्मकी अन्तरंग-शक्ति रूप माया है जिसे 'पांचरात्र' आदि तन्त्र-ग्रन्थोंमें 'लक्ष्मी' या 'रमा' शब्दसे भी कहा गया है। दूसरा मायाका स्वरूप है भगवान् परब्रह्मका वह सामर्थ्य जिससे कि वे सम्पूर्ण जगत्का निर्माण किया करते हैं। और तीसरा मायाका रूप है जीवोंको मोह करानेवाली भगवान्की शक्ति जिसे अविद्या शब्दसे कई स्थानोंपर कहा गया है। इसका ही नाश करनेकी भागवतकी वेदस्तुतिके आरम्भमें भगवान्से प्रार्थना की गयी है और भागवतके मंगलाचरणमें 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्' कहा है –

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
इस भगवान्के विशेषणमें इसका भगवान्पर कोई प्रभाव नहीं रहता। यह जीवोंको ही मोहित करती है। भगवान् तो अपने तेजसे इसे सदा ही दूर रखते हैं। इन तीनोंका ही सामान्य नाम 'माया' है।

गोस्वामी श्री तुलसीदासजीने जो अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजीके प्रति श्री रामचन्द्रका उपदेश लिखा है उसमें भी यह श्री वल्लभाचार्यका सिद्धान्त ही प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है। उन्होंने पहले मायाका सामान्य लक्षण बतलाकर आगे उस मायाके दो भेद बतलाये हैं : पहली विद्या और दूसरी अविद्या। इन दोनोंका विवरण आगे इस प्रकार किया है –

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ,
विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक रचइ जग गुन बस जाके,
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा,
जा बस जीव परा भवकूपा।

यहाँ मायाके जो दो भेद कहे गये हैं उनमें पहला भेद 'विद्या' नामसे कहा गया है जो कि भगवान्की प्रेरणासे सब जगत्की रचना किया करती है और दूसरी 'अविद्या' शब्दसे कही गयी है जिसके वशमें होकर जीव संसार-रूपी समुद्रमें पड़ा रहता है। पाठक देखेंगे कि यहाँ विद्या शब्दसे मायाका वही स्वरूप बतलाया गया है जो श्री वल्लभाचार्यने मायाका दूसरा रूप कहा है, और अविद्या शब्दसे उनका कहा हुआ तीसरा रूप ही श्री गोस्वामीजीने बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि गोस्वामी श्री तुलसीदासजीने शांकर दर्शनका तो पूर्ण मनन किया ही था किन्तु अन्य मतोंके ग्रन्थोंका भी पूरा मथन अपनी बुद्धिके द्वारा उन्होंने किया था। आगम-शास्त्रोंमें मायाको उत्पन्न करनेवाली शक्ति 'महामाया' या 'शुद्ध-विद्या' शब्दसे कही गयी है। यह विद्या शब्द श्री गोस्वामीजीने आगम-शास्त्रसे ही लिया है ऐसा प्रतीत होता है। अस्तु।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
श्री भगवद्गीतामें भी जहाँ कहीं सृष्टिका प्रसंग आया है वहाँ 'प्रकृति' शब्दका ही व्यवहार प्रायः मिलता है, और जहाँ जीवके मोह करानेका प्रसंग है वहाँ प्रायः 'माया' शब्दका ही व्यवहार किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीतामें जगत्की उत्पादन करनेवाली शक्तिके लिए प्रकृति शब्दका और जीवको मोहित करनेवाली शक्तिके लिए माया शब्दका व्यवहार किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब भगवान्से ही तीनों प्रकारकी माया-शक्तियोंका प्रकट होना माना गया और इस सम्प्रदायमें कार्य और कारणका अभेद ही माना जाता है तब वह अविद्या भी भगवान्का कर्ता होनेसे भगवान्से अभिन्न ही सिद्ध होगी, फिर भगवान् अपने तेजसे इसको दूर ही रखते हैं—यह कहना कैसे बनेगा ? इसका उत्तर वहाँ यह दिया जाता है कि कार्य और कारणका सर्वथा अभेद नहीं, किन्तु तादात्म्य है। तादात्म्यका अर्थ किया जाता है 'भेद सहिष्णु अभेद'। अर्थात् अभेद है किन्तु वह अभेद भेदका सर्वथा विरोधी नहीं, वह भेदको भी साथ रखता है। उस भेदके अंशको लेकर ही अविद्याके नाशकी भगवान्से प्रार्थना की गयी है और उसी अंशको मानकर भगवान् अपने तेजसे अविद्याको दूर ही रखते हैं। उस अविद्याका उनपर कोई प्रभाव नहीं होता, यह भी कहा गया है।

पुनः प्रश्न होता है कि यह मत चाहे किसी प्रकार हो, किन्तु शब्दके प्रसिद्ध अर्थकी तो रक्षा वहाँ भी करनी ही पड़ेगी। अभेद शब्दके आरम्भमें जो 'न' अव्यय है, उसके अभाव या विरोध दो ही अर्थ शास्त्रोंमें माने गये हैं। जब भेदका अभाव ही हो गया तब अभेद भेदका सहन करता है यह बात कैसे बनेगी ? अभाव और भावका साथ रहना तो किसी भी प्रकार नहीं बन सकता। विरोध अर्थ माननेपर भी दो परस्पर विरोधी एक साथ कैसे रह सकते हैं ? इससे भेद सहिष्णु अभेद यह कल्पना शब्द-मर्यादासे बन नहीं सकती। इसके अतिरिक्त दोनोंको साथ माननेके दो ही मार्ग हो सकते हैं: एक तो यह कि किसी रूपमें भेद और किसी रूपमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभेद माना जावे, दूसरा यह कि किसी एकको मुख्य और दूसरेको गौण रूपसे मान लिया जावे। पहला प्रकार माननेसे यह मत जैन मतसे एकाकार हो जावेगा, क्योंकि जैन सिद्धान्तमें ही किसी प्रकार भेद और किसी प्रकार अभेद माना जाता है, और दूसरा प्रकार मान लेनेपर श्री शंकराचार्यके अनिर्वचनीयवादसे ही यह सम्प्रदाय भी मिल गया, फिर उनके सिद्धान्तका इतने खण्डनका आडम्बर क्यों ? इस प्रश्नका उत्तर वहाँ यही दिया जाता है कि परब्रह्मका स्वरूप केवल शास्त्रगम्य है, इसलिए जैसा उपनिषदोंमें परब्रह्मका स्वरूप बतलाया गया है वैसा ही मान लेना चाहिए। इसमें युक्तिवादका कोई प्रसंग उठाना अनधिकार चर्चा ही होगी। उपनिषदोंमें परब्रह्मको विरुद्ध धर्मोंका आश्रय माना गया है। वह 'अणोरणीयान्' अर्थात् छोटेसे छोटा भी है और 'महतो महीयान्' अर्थात् बड़ेसे बड़ा भी है। इस प्रकार ब्रह्ममें जब सब विरुद्ध धर्मोंका रहना भी मान लिया जाये तब भेद और अभेदकी उक्त प्रकारकी शंकाका कोई स्थान ही नहीं रहता। इस प्रकार शुद्धाद्वैत सिद्धान्तमें माया अविद्या आदि परमात्माकी ही शक्तियाँ हैं, और उससे ही वे प्रकट होती हैं। इसका संक्षिप्त विवरण उस सम्प्रदायके अनुसार यहाँ किया गया है। उत्पन्न होनेका अर्थ इस सिद्धान्तमें प्रकट होना ही माना गया है, यह भी समझ रखना चाहिए।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोस्वामाजीके दार्शनिक विचार

काव्यमें कविके विचारोंका प्रतिबिम्ब होना एक स्वाभाविक बात है। काव्य, महाकाव्य यद्यपि किसी कथाविशेषके आधारपर ही निबद्ध होते हैं, किन्तु कवि अपनी योग्यताके अनुसार अपने सभी विषयोंके विचारोंकी छटा उनमें, स्थान-स्थानपर, प्रदर्शित करते हैं। अतएव साहित्यके परमाचार्य मम्मट भट्टने सब शास्त्रोंकी, और लोककी भी, व्युत्पत्ति कविके लिए आवश्यक मानी है। कविकी प्रौढ़िपर ही काव्यका सौन्दर्य अवलम्बित है। महाकवि अपने काव्यके पाठकोंको सब विषयोंमें अन्य-निरपेक्ष कर देनेकी चेष्टा किया करते हैं। वे सब ही जानने योग्य विषयोंका उसमें, अपने विचारानुसार, समावेश करते हैं। ऐसे महाकाव्योंमें कविके विचार, उसकी मान्यताएँ और मत स्वच्छ मणिमें प्रतिबिम्बकी भाँति स्पष्ट झलक जाते हैं।

भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरित-मानस (रामायण) इसी प्रकारका एक महाकाव्य है। गोस्वामीजीने किसी विषयको उसमें समाविष्ट करनेसे छोड़ना नहीं चाहा। सब ही प्रकारके विचारोंका आदर्श, जैसी कि गोस्वामीजी-जैसे महाबुद्धिमान् और महात्मासे आशा की जा सकती है, उनके उस महाकाव्यमें पाया जाता है। यहाँ हम और विषयोंकी ओर न जाकर गोस्वामीजीके केवल दार्शनिक विचारोंपर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

विद्वान् जानते हैं कि 'दर्शन-शास्त्र' एक अत्यन्त गूढ़ और जटिल विषय है। कहना चाहिए कि संस्कृत साहित्य समुद्रका वह अमृत भाग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। संस्कृतके भी विरले ही विद्वान् इस विषयमें प्रवेश पाते हैं। ऐसे गूढ़ और जटिल विषयको भी श्री गोस्वामीजीने कैसी सुगमतासे लिखा है, यही इस लेखमें दिखाना अभीष्ट है। इस लेखके आरम्भमें ही इतना और निवेदन कर देना आवश्यक है कि यह लेख किसी साम्प्रदायिक पक्षपातके वश न होकर केवल साहित्य दृष्टिसे एक आलोचना है।

यह प्रसिद्ध बात है कि रामभक्त श्री गोस्वामीजी अनन्य वैष्णव थे। यह वृत्तान्तसे, उनके काव्योंसे, सब ही से प्रकट होता है। उनकी अनन्य विष्णुभक्तिके कारण बहुत-से विचारक सज्जन यह भी अनुमान करते हैं, और कर सकते हैं, कि वे किस वैष्णव सम्प्रदायविशेषके अनुयायी होंगे। ऐसी स्थितिमें स्वभावतः यहाँ कल्पना होती है कि उनके दर्शनसम्बन्धी विचार भी विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इन वैष्णव दर्शनोंमें-से ही किसी दर्शनके अनुसार हों। किन्तु जब हम उनके श्रीरामचरितमानसको पक्षपात-शून्य विचार-दृष्टिसे देखते हैं तो विवश होकर ऊपरकी कल्पना छोड़ देनी पड़ती है और आश्चर्यके साथ स्पष्ट यही निश्चय करना पड़ता है कि दार्शनिक सिद्धान्तोंमें श्री गोस्वामीजी श्री शंकराचार्यके अद्वैतवादके ही अनुगामी हैं। उनके ग्रन्थसे इसका दिग्दर्शन कराना भी इस लेखका उद्देश्य है।

श्री गोस्वामीजीने आरम्भिक मंगलाचरणके श्लोकोंमें एक यह भी श्लोक रचा है—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

इसका अर्थ है कि यह सम्पूर्ण जगत्, ब्रह्मा आदि देवता और असुर, सब जिसकी मायाके वशमें हैं, और जिसकी सत्तासे सम्पूर्ण जगत् सत्य-सा प्रतीत हो रहा है, जैसा कि भ्रम-कालमें रज्जुकी सत्तासे सर्प सत्य-सा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
प्रतीत हुआ करता है, एवं संसाररूप समुद्रको तैर जानेकी इच्छा रखने-वालोंके लिए जिसके चरण ही नौकारूप हैं, उन सब कारणोंसे भी परे राम नामक जगदीश्वर हरिको मैं प्रणाम करता हूँ। पाठक देखेंगे कि इस श्लोकमें स्पष्ट ही श्री शंकराचार्यका अद्वैतवाद, न केवल अद्वैतवाद ही किन्तु मायावाद भी उल्लिखित हुआ है। जगत् माया-जनित असत्य है, वह ब्रह्मकी सत्तासे सत्तावान् प्रतीत होता है, यही शांकर सिद्धान्त है। वैष्णव आचार्यों-ने जगत्को मायिक एवं असत्य स्वीकार नहीं किया। यद्यपि पूर्वोक्त श्लोक-में कहीं-कहीं 'अमृषैव' पाठ मिलता है, जिससे 'जगत् सत्य ही प्रतीत होता है' ऐसा कुछ विपरीत अर्थ हो जानेकी सम्भावना हो सकती है, किन्तु 'यत्स-त्त्वात्' और 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' इन पदोंका इस पक्षमें कुछ भी स्वारस्य नहीं रहता। क्योंकि जगत् सत्य मान लेनेपर वह ब्रह्मकी सत्तासे भासित नहीं हो सकता, किन्तु अपनी ही सत्तासे भासित होगा। और इस पक्षमें रज्जु-सर्पवाला भ्रमका दृष्टान्त भी नहीं घटता, क्योंकि जगत्को भ्रमका विषय मायावादी ही बताते हैं, दूसरे नहीं। अतः इस श्लोकका तात्पर्य मायावादमें ही है। कल्पना हो सकती है कि यह श्लोक गोस्वामीजीका ही बनाया हुआ हो, इसका कोई दृढ़ प्रमाण नहीं। सम्भव है, मंगलाचरणके श्लोकोंमें पीछेसे किसीने मिला दिया हो। किन्तु इस कल्पनाका कोई कारण नहीं दीखता। क्योंकि और-और स्थानोंमें भी जहाँ प्रसंग आया है, श्री गोस्वामीजीने मायावादका स्फुट उल्लेख किया है। जैसा कि सुन्दर-काण्डमें हनुमान्की उक्ति है—

"सुनि रावण ब्रह्माण्ड निकाया। पाय जासु बल विरचित माया॥
जाके बल विरंचि हरि ईशा। पालत सृजत हरत दशशीशा॥"

यहाँ ब्रह्मका बल पाकर अर्थात् उसी अधिष्ठानकी सत्तासे सत्ता लाभ कर माया जगत् बनाती है, यह कहा गया है; और रज, सत्त्व और तमके अधिष्ठाता ब्रह्मा-विष्णु-शिवको ब्रह्मके बलसे ही बलवान् माना गया है। शंकर-दर्शनमें भी ब्रह्मा-विष्णु-शिव ये माया-विशिष्ट चैतन्यकी उपाधि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भेदसे भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ स्वीकार की गयी हैं और विशिष्ट सब शुद्ध चैतन्यपर ही अधिष्ठित हैं। इससे पूर्वोक्त श्लोककी और चौपाईकी एक-वाक्यता है। मंगलाचरणके प्रकरणमें ही (बालकाण्ड-आरम्भ)—

"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बन्दौं सब के पद-कमल, सदा जोरि जुगपानि॥
सीय-राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुगपानी॥"

इत्यादि वाक्योंमें कैसी सुन्दर अद्वैतवादकी छटा श्री गोस्वामीजीने झलकायी है, यह सहृदय पाठक ही विचार-बुद्धिसे अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि सभी मतोंमें ईश्वरको व्यापक माना जाता है, और ईश्वर-बुद्धिसे सब जड़ चेतनकी पूजा उपयुक्त समझी जाती है, किन्तु राममय जगत् देखना, रामके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही न मानना अद्वैतवादकी ही पराकाष्ठा है।

आगे रामके गुणवर्णनमें अपनी अशक्ति होनेपर भी अपनी वाणीको पवित्र करनेके उद्देश्यसे रामचरित-कथनमें अपनी प्रवृत्ति बताते हुए श्री गोस्वामीजी कहते हैं कि रामका गुण-वर्णन तो कोई भी नहीं कर सकता, किन्तु करनेका साहस सबने ही किया।

"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरन्तर गान॥
सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई॥
तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥"

विचार-दृष्टिसे देखनेपर इस प्रकरणका यही तात्पर्य प्रतीत होगा कि 'नेति नेति' कहकर सब गुणोंका निषेध करते हुए भी वेद आदि शास्त्र निरन्तर ईश्वरका गुण-गान करते हैं। इस विरोधका कारण भी वेदने ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बताया है कि, ब्रह्म वस्तुतः एक – अद्वितीय, अनीह – इच्छा-रहित, अरूप, अनाम (जिसका न कोई रूप है न नाम है), अज, नित्य, सच्चिदानन्द स्वरूप है। अर्थात् न कोई उसमें गुण है, न उसका कोई नाम है, न कोई रूप है। उसका कथन कोई नहीं कर सकता, किन्तु बिना गुण-वर्णनके उपासना (भजन) होगी नहीं और उपासनाके बिना जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता। उपासनाका ही प्रभाव है कि वह मनुष्योंको मुक्ति-मार्गमें ले जाती है। अतः भक्तोंके हितके लिए उनकी उपासना पूर्ण होनेके लिए भगवान् शरीर धारण कर नाना चरित करते हैं उन्हीं भगवान्के चरितों और गुणोंका सब भक्त लोग गान करते हैं और मुक्त होते हैं। यह भक्तोंका हित-सम्पन्न करुणामय जगदीशकी करुणा मात्र है। शांकर दर्शन भी यही कहता है कि ब्रह्म वस्तुतः नीरूप निर्गुण है। उसके लिए वेदने—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

(मन और वाणी जिसे प्राप्त न होकर बीचमें-से ही लौट आते हैं) कहा है। किन्तु जब वह अनिर्वचनीय मायाके साथ गृहीत होता है, तब सर्वगुणाकर सर्वशक्तिमान् कहा जाता है और 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सब ही उसीके गुण गाते हैं। बस, इस प्रकरणका भी तात्पर्य शंकर मतसे स्पष्ट मिल रहा है, यह पाठक समझ गये होंगे। क्योंकि और मतोंमें 'नेति' 'नेति' से ब्रह्म-का निरूपण नहीं होता, और ब्रह्म 'अनीह अरूप अनामा' नहीं माना जाता।

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न[1]॥"

(बालकाण्ड, आरम्भिक स्तुति)

विज्ञ पाठक देखेंगे कि इस दोहेमें माया और ब्रह्म रूप सीता और

---

१. खिन्न अर्थात् दुःखित पुरुष जिन सीतारामका परमप्रिय है अर्थात् जो दुःखितोंका दुःख मेटनेवाले शरणागतवत्सल हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामके परस्पर शब्द और अर्थकी तरह तथा जल और तरंगकी तरह भेद और अभेद दोनों माने गये हैं। जैसे शब्दके बिना अर्थ और अर्थके बिना शब्द नहीं उपलब्ध होता, शब्दका प्रयोग करते ही अर्थ मनोभूमिकामें अपने-आप प्रविष्ट हो जाता है, जैसे किसीने 'सिंह' इन दो अक्षरोंका उच्चारण किया कि विकट जटाधारी चितकबरे रंगका चार पैर और पूँछवाला दुदकारता हुआ एक भयानक जन्तुविशेष मानो आँखोंके आगे घूमने लगता है, इसी प्रकार जहाँ अर्थ देखा कि शब्द बिना बुलाये ही अपने-आप टूट पड़ता है। एकके बिना दूसरा कहीं मिलता ही नहीं। इसीसे कई शास्त्रोंमें शब्द और अर्थका तादात्म्य-अभेद मान लिया गया। किन्तु इतना सब होते हुए भी शब्द और अर्थ बिलकुल भिन्न वस्तु हैं। एकके धर्म दूसरेमें जा ही नहीं सकते। अर्थमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं, वजन है, वह स्थान घेरता है, किन्तु शब्दमें यह सब कुछ नहीं। मुखमें अग्निकी एक चिनगारी भी आ जाये तो वही भारी आफ़त हो जाये, किन्तु महा अग्नि भी वहाँ बड़े आनन्दसे विहार करता है। इससे इन दोनोंका भेदाभेद सम्बन्ध मानना पड़ता है। यह भाव संस्कृतके कविकुलगुरु कालिदासने भी रघुवंशके आरम्भमें ही रखा है –

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥"[1]

यही दशा ब्रह्म और मायाकी है। शुद्ध ब्रह्म ज्ञानका विषय नहीं, वह सदा मायासहित ही उपलब्ध होता है। मायाकी तो ब्रह्मके बिना सत्ता ही नहीं है, अतएव माया और ब्रह्मका काल्पनिक अभेद है। किन्तु वस्तुतः ये दोनों अत्यन्त ही भिन्न हैं। न केवल भिन्न किन्तु इनका स्वरूप और इनके धर्म परस्पर 'तेज' और 'तम'की तरह अत्यन्त विरुद्ध हैं।

---

१. वाणी और अर्थकी तरह, आपसमें मिले हुए, जगत्के पिता-माता पार्वती और शंकरको वाणी और अर्थकी प्राप्तिके लिए मैं प्रणाम करता हूँ; यह श्लोकार्थ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
एक जड़ है, एक चेतन। एक परिच्छिन्न है, एक व्यापक। एक सान्त है, एक अनन्त इत्यादि। अतएव यहाँ भी भेदाभेद ही मानना पड़ा। भेद और अभेद दोनों एक जगह एक वस्तुके हो ही नहीं सकते, अतः अन्तमें 'अनिर्वचनीय वाद' सिद्ध हो जाता है। यही संक्षेपतः शांकर सिद्धान्तमें वेदान्तकी शैली है।

माया और ब्रह्मके सम्बन्धमें शब्द और अर्थका दृष्टान्त यद्यपि रोचक है, तथापि एकदेशीय है। क्योंकि यहाँ शब्द और अर्थ दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु वहाँ ब्रह्मके अतिरिक्त मायाकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतएव विज्ञप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने दूसरा दृष्टान्त दिया है 'जल-वीचि सम' – जैसे तरंग और जल कभी भिन्न-भिन्न उपलब्ध नहीं होते, अतः उनका अभेद कह सकते हैं, किन्तु तरंग जलके आश्रित है, यह 'आश्रय-आश्रित-भाव' बिना भेदके नहीं बनता। इसके सिवा एक तरंग नष्ट होती है, दूसरी पैदा होती है, किन्तु जल अपने स्वरूपमें एक-सा बना हुआ है। अतः इन दोनोंमें वस्तुतः भेद भी है। यहाँ इतनी विशेषता और है कि तरंगकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह जलकी सत्तासे ही सत्तावान् प्रतीत होती है। स्वतन्त्र सत्ता होती तो वह कभी पृथक् भी मिलती। किन्तु त्रिकालमें भी उसका पृथक् मिलना असम्भव है। बस, जब उसकी स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं और वह जलका स्वरूप भी नहीं, तब विचार-दृष्टिसे कह सकते हैं कि जल ही परमार्थ सत्य है, तरंग मिथ्या है। ठीक यही दृष्टान्त ग्रन्थोंमें ब्रह्म और मायापर घटाया जाता है। माया और ब्रह्मके पृथक् उपलब्ध न होनेपर भी मायाका आंशिक विनाश और उत्पत्ति है, अर्थात् परिणाम है। किन्तु ब्रह्म सदा निर्विकार एकरस है। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय ये सब तरंग-मात्र हैं। अतएव मायाकी सत्ता स्वतन्त्र न होनेसे, या मायाके ब्रह्मस्वरूप प्रविष्ट न होनेसे माया और मायिक जगत्को वेदान्ती मिथ्या कहते हैं। गोस्वामीजीने भी ब्रह्म और मायाका 'जलवीचि'की तरह सम्बन्ध मानकर और भेदाभेदके द्वारा अनि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
र्वचनीयता मानकर इस सिद्धान्तको स्वीकार किया । अतः श्री गोस्वामीजी-का यह दोहा स्पष्ट ही शंकर वेदान्तका अनुयायी है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

"नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।"

यहाँ नाम और रूपको ईश्वरकी उपाधि बताया है । वेदान्त दर्शन भी यही निरूपण करता है कि प्रत्येक वस्तुमें पाँच भाव प्रतीत होते हैं : सत्ता, चेतना, आनन्द, नाम और रूप । इनमें सत्ता, चेतना और आनन्द ब्रह्मके रूप हैं, और नाम तथा रूप – ये दोनों मायिक हैं । संसारमें जिसे हम वस्तुओंकी उत्पत्ति और उनका विनाश कहते हैं, वह यथार्थ विचारसे नाम और रूपकी ही उत्पत्ति या विनाश हैं । कोई वस्तु स्वरूपतः कभी नष्ट नहीं होती, न कभी उत्पन्न ही होती है । एक नाम और एक रूप (आकार) यही नये-नये पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं । उदाहरणके लिए – पहले कपास थी, फिर नयी रूई बनी, फिर उसका सूत हुआ, आगे वही मलमल, नैनसुख, लट्ठा या गाढ़ा बन गया । ये सब भेद क्यों हुए ? कौन-सी नयी वस्तु पैदा हुई ? तनिक भी विचार करनेसे स्पष्ट विदित होगा कि केवल पहलेका नाम, रूप (आकार) हटता गया, और नया-नया नाम, रूप पैदा होता गया । यही भेदका कारण है । वस्तु तो एक ही है । बस, यही नाम-रूप संसार है, यही अनित्य है, इसे ही माया कहते हैं, और यही सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मकी उपाधि है । अर्थात् यह ब्रह्म-का स्वरूप नहीं, किन्तु सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मका ग्रहण (ज्ञान) इसके साथ ही होता है । जैसे जहाँ वृक्षपर-से चन्द्रमाको दिखाते हैं, वहाँ वह वृक्ष चन्द्रमाके स्वरूपमें प्रविष्ट नहीं रहता, किन्तु चन्द्रमाका परिचय उसके द्वारा होता है, अतएव उसे उपाधि कहते हैं । इसी प्रकार प्रकृतमें भी नाम, रूप ब्रह्मके स्वरूपमें न होनेपर भी यावत् वस्तुमें सच्चिदानन्द ब्रह्मका परिचय करानेवाले हैं । बिना नामरूपके सत्ता और चेतना भी कहीं प्रतीत नहीं होती । अतएव नामरूपको उपाधि कहा जाता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
इसलिए यह उपाधिवाद शंकर मतका खास सारभूत वाद है, जिसे यहाँ गोस्वामीजीने स्वीकार किया है। अतः श्री गोस्वामीजीका शंकरमतानुयायी होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

शंकरसिद्धान्तके अनुयायी वेदान्ती ब्रह्मके दो स्वरूप मानते हैं, शुद्ध और मायाविशिष्ट। शुद्धको ही निर्गुण, निर्विकार, निष्क्रिय कहते हैं और मायाविशिष्ट सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म सर्वथा ज्ञात नहीं होता। वह ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञानका विषय नहीं। वह मन और वाणी दोनोंके अगम्य है, किन्तु विशिष्ट सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र ज्ञेय और ध्येय है। अर्थात् उसका ज्ञान भी होता है, ध्यान भी होता है, और उपासना भी उसीकी होती है। वास्तविक विचार करनेसे यह ब्रह्मका सगुण रूप निर्गुणसे भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म एक ही है; दो कदापि नहीं। किन्तु निर्गुण ही मायाके सम्बन्धसे मायाके गुणोंसे गुणवान् होकर सगुण हो जाता है। जैसे स्वच्छ जलमें जहाँ वृक्षादिका प्रतिबिम्ब हो, वहाँ जलमें प्रतीत होते हुए हरित आदि रूप व चलन आदि क्रिया जलके अपने नहीं, किन्तु आगन्तुक हैं। इसी प्रकार ब्रह्ममें प्रतीत गुण उसके स्वाभाविक नहीं किन्तु आगन्तुक हैं, यह शंकर दर्शनका निर्गुण सगुण तत्त्व श्री गोस्वामीजीने खूब समझा था, और समय-समयपर बड़ी मनोज्ञ रीतिसे इसी तत्त्वका विस्तार किया है। नाम-माहात्म्य वर्णनमें वे लिखते हैं –

"अगुन सगुन दोउ ब्रह्म-सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरें मत बड़ नाम दुहूँ ते। किये जेहि जुग निज बस निज बूते।
एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्मबिबेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें।"

यहाँ अगुण और सगुण दोनों स्वरूपोंका विवेक करानेके लिए गोसाईंजीने एक दृष्टान्त दिया है कि 'पावक सम जुग ब्रह्मबिबेकू' अर्थात् एक अग्नि वह है जो काष्ठ आदिमें सर्वत्र सदा व्यापक रहता है। विज्ञान-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
विहीन सत्रहवीं शताब्दीके गोस्वामीजीकी यह उक्ति कितनी आश्चर्यकर है। तात्पर्य इसका यही है कि अग्नि सब काष्ठ आदि पदार्थोंमें व्यापक है, किन्तु यह उसका निर्गुण रूप है। वहाँ छूनेसे दाह नहीं होता। साधारण बुद्धिके मनुष्य तो उस व्यापक अग्निकी अवस्थाको जान भी नहीं सकते, किसीके बतानेपर भी विश्वास नहीं कर सकते कि काष्ठ आदिमें सदा अग्नि वर्तमान है। किन्तु जब वह अग्नि प्रकट रूपमें आ जाती है, उष्ण स्पर्श आदि गुणोंसे सगुण हो जाती है तब उसे सभी जानते और मानते हैं। इसी प्रकार जो जगत्में सर्वत्र व्यापक होनेपर भी 'निर्गुण' 'निरीह' है, उसका ज्ञान साधारण स्थितिके लोगोंको कदापि नहीं हो सकता। न उससे किसीका कुछ बनता-बिगड़ता ही है। वह न ज्ञेय है, न ध्येय है, न उपास्य। किन्तु वह जब माया-विशिष्ट होकर सगुण होता है, विष्णु, शिव आदि रूप सृष्टि-पालन आदिके लिए ग्रहण करता है, या राम कृष्णादि अवतार धारण करता है, तब उसे सभी जानते और मानते हैं, और उसकी उपासना या भजन करते हुए अपना कल्याण सम्पादन करते हैं। कैसी उत्तम रीतिसे यहाँ सगुण निर्गुणका निरूपण है। और यह निरूपण शांकर सिद्धान्तमें ही सुसंगत होता है, क्योंकि दूसरे मतोंमें ब्रह्मका 'निर्गुण रूप' नहीं माना जाता।

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
विष्णु जो सुरहित नरतनु-धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजत सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥

यह बालकाण्डमें सती-दाहका प्रकरण है। जिस समय शिवके साथ विचरती हुई सतीने सीता-वियोगसे आतुर इतस्ततः भ्रमण करते हुए और सीताकी खोज करते हुए श्री रामको देखा, और भगवान् सदाशिवने परब्रह्म-भावनासे श्रीरामचन्द्रको प्रणाम किया, तब सतीके चित्तमें यह उठा कि ये राम ब्रह्म किस प्रकार हो सकते हैं? इसी प्रसंगमें ब्रह्मका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
वर्णन किया जाता है कि ब्रह्म व्यापक है, विरज अर्थात् रज आदि तीनों गुणोंसे व उनके कार्य-क्रिया आदिसे रहित है, अज अर्थात् कभी जन्म न लेनेवाला – नित्य है, अकल अर्थात् प्राण आदि सोलह कलाएँ जो उपनिषदोंमें प्रसिद्ध हैं, जो कि जीवके साथ रहती हैं, उनसे भी रहित है, अनीह अर्थात् पूर्णकाम होनेके कारण इच्छाओंसे भी रहित है, और अभेद अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगत तीनों भेदोंसे सर्वथा रहित है, जिसको न जानकर वेदने भी स्पष्ट कह दिया कि –

"संविदन्ति न यं वेदा विष्णुवद न वै विधिः ।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥"

अर्थात् जिसको वेद नहीं जानते, ब्रह्मा और विष्णु भी जिसे नहीं पहचानते (जानें भी किस प्रकार, जब वह मन या वाणीका विषय ही नहीं, मन और वाणी उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थककर लौट आते हैं), जिसमें कोई धर्म नहीं, ऐसी वस्तुको वाणी किस प्रकार बतलाये और जिसके कारण मनमें जाननेकी शक्ति है, उसे मन किस प्रकार जाने । ऐसी वस्तु जो अज्ञेय है, उसका तो न जानना ही जानना है ।

"अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।"

अस्तु, ये ब्रह्मके लक्षण मनुष्य-देहधारी राममें कैसे घट सकते हैं ? ये राम तो एक देशमें हैं । इनका जन्म भी हुआ, शोक, मोह, इच्छा भी इनमें प्रत्यक्ष सिद्ध हैं । इनको सब देखते और जानते भी हैं । सुतरां ये परब्रह्म नहीं माने जा सकते । और कदाचित् ये विष्णुका अवतार कहे जायें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि विष्णु भी त्रिपुरारि-शंकरके समान ही सर्वज्ञ हैं ! वे अज्ञकी तरह स्त्रीको क्यों खोजते-फिरते ? इत्यादि ।

आजकलके 'अति आधुनिक' लोगोंके हृदयमें जैसे सन्देह उठते हैं, वैसे ही सन्देहोंका सतीके चित्तमें भी उठना गोस्वामीजीने बताया है । आगे श्रीशंकरने बहुत-कुछ समझाया, किन्तु सतीका भ्रम दूर न हुआ । उसने स्वयं रामकी परीक्षा ली । शंकर इससे अप्रसन्न हुए । आगे सतीने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षके यज्ञमें अपना शरीर छोड़ा, फिर वही हिमालयके यहाँ जन्म लेकर पार्वती हुई, इत्यादि बड़ी लम्बी कथा है। प्रकृतमें इस प्रकरणका सम्बन्ध इतना ही है कि शांकर मतमें जैसा ब्रह्मका निरूपण है, तदनुसार ही निर्गुण, निरीह, अद्वैत ब्रह्म यहाँ निरूपित हुआ है। इन सब प्रकरणोंपर दृष्टिपात करनेसे गोस्वामी तुलसीदासजीके शंकर-मतानुयायी होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। यह भी यहाँ स्पष्ट हो गया कि गोस्वामीजी विष्णु, शंकर आदिको सृष्टि-पालन आदिके लिए ब्रह्मके सोपाधिक रूप एवं परस्पर समान मानते थे और शुद्ध ब्रह्मको इन सबसे परे जानते थे। तभी तो आपने विष्णु भगवान्‌के लिए 'सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी' लिखा। अस्तु।

आगे शिव-पार्वतीके विवाह-वर्णनके अनन्तर श्री पार्वतीने पुनः शंकरसे राम-कथाके सम्बन्धमें प्रश्न किया, और शंकर भगवान् श्रीरामका स्मरण कर कथा आरम्भ करने लगे। उस स्थानपर जो श्रीशंकरके मुखसे श्रीरामका मंगलाचरण-रूप वर्णन है, उसमें अति स्पष्ट शंकर सिद्धान्तका मायावाद विराजमान है। –

"झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन-भ्रम जाई॥
बन्दौं बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मंगल-भवन अमंगल-हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥"

जब किसी पुरुषको रस्सीमें साँपका भ्रम हो जाता है तब जबतक वह उस रस्सी (रज्जु) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त न कर सके, वह झूठा सर्प भी सत्य ही प्रतीत होता है। जैसे सत्य सर्पसे भय, कम्प, निवृत्ति आदि होते हैं, वैसे ही उस रज्जु-भुजंगसे भी होते हैं। इसी प्रकार जिन रामके (परब्रह्म) न जाननेसे झूठा जगत् भी सत्य प्रतीत हो रहा है, और जिनका ज्ञान होते ही जगत् खो जाता है (विलीन हो जाता है) जैसे कि जागनेपर स्वप्नके हाथी, घोड़े, नदी, पहाड़ आदि; उन बालरूप श्रीरामको मैं प्रणाम करता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
हूँ । इत्यादि । यहाँ कुछ भी कहनेकी आवश्यकता न रही । इससे अधिक शांकर 'मायावाद' का स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है ?

इससे कुछ ही आगे चलकर पार्वतीको समझाते हुए शिवके वचनोंमें गोस्वामीजी मायावादके सिद्धान्तोंका और भी विस्तृत वर्णन करते हैं। यथा –

"जथा गगन घनपटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥
चितव जो लोचन अंगुलि लायें । प्रगट जुगल ससि तेहि के भायें ॥
उमा राम-विषयक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥
विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान-गुण-धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥
रजत सीप मँहु भास जिमि, जथा भानुकर बारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥
एहि विधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुखु अहई ॥
ज्यों सपने सिर काटै कोई । बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि अन्त कोउ जासु न पावा । मति अनुमान निगम अस गावा ॥

यहाँ एक शंका होती है कि ब्रह्म जब स्वयंप्रकाश है, तब फिर उसके विषयमें भ्रम क्यों हो रहा है ? भ्रम तो बाह्य जड़ पदार्थोंके विषयमें हो सकता है, जैसे किसीने सीपको चाँदी समझ लिया, या रेतीली ज़मीनमें सूर्यकी किरणोंको जल समझ लिया। ये सब बाह्य वस्तुएँ हैं, इनमें सामान्य, विशेष कई अंश हैं। अर्थात् कई धर्मोंमें सीप और चाँदीकी समानता है, और कई धर्मोंमें विशेषता भी है। जब इन्द्रिय आदिके दोषसे सामान्य अंशका ज्ञान हो जाये और विशेषताका ज्ञान न हो, तभी भ्रम हुआ करता है। किन्तु ब्रह्म तो बाह्य पदार्थ नहीं, वह स्वरूपमें अनुप्रविष्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
है। न वह जड़ है, कि जिसके प्रकाशमें इन्द्रिय आदिकी आवश्यकता हो, न उसमें सामान्य, विशेष आदि अंश ही हैं। फिर ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान सबको क्यों नहीं हो जाता ? और सब प्रपंचके धोखेमें क्यों पड़े रहते हैं ? यदि यह कहा जाये कि माया अथवा अविद्यासे आवृत (ढँका हुआ) रहनेके कारण ब्रह्म सबको प्रकाशित नहीं होता, तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या माया या अविद्या ब्रह्मसे भी बड़ी है, जिसने ब्रह्मको भी आवृत कर रखा है ? इससे तो ब्रह्मका महत्त्व कुछ भी नहीं रहता। इस शंकाका शंकरमतानुयायी ग्रन्थोंमें जो उत्तर दिया जाता है, वही श्री गोस्वामीजीने 'जथा-गगन' इत्यादि पूर्वोक्त चौपाइयोंमें लिखा है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार सूर्य अति महान् है, मेघ-मण्डल उसकी अपेक्षा अति तुच्छ है, मेघ कदापि सूर्यको नहीं ढाँक सकता, किन्तु जब गगन (आकाश)में घन-पटल (मेघमण्डल) आ जाता है, और वह हमारी दृष्टिको सूर्यपर जानेसे रोक देता है, तब पूर्ण विचार न करनेवाले साधारण लोग यही कह उठते हैं कि मेघने सूर्यमण्डलको छिपा लिया। छिपाया है मनुष्योंकी दृष्टिको किन्तु प्रतीत सूर्यका छिपाना होता है; इसी तरह द्रष्टा (देखनेवाले) जीव-पर अविद्याका आवरण है, किन्तु उसी आवरणके कारण ब्रह्मका भान न होनेसे हम (जीव) ब्रह्मको आवृत कह देते हैं। ब्रह्मपर अविद्याका कुछ बल नहीं; किन्तु वह जीवकी दृष्टिको (दर्शन शक्तिको) आच्छादित कर देती है, जिससे इसे बिना अविद्या दूर किये ब्रह्मका यथार्थ बोध नहीं होता। यही आशय कुछ ही पूर्वकी चौपाइयोंमें भी स्पष्ट किया जा चुका है –

"राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धर्म अहमिति अभिमाना ॥"

एक बात यहाँ और समझ लेनेकी है कि वेदान्त मतमें शुद्ध चैतन्य रूपसे अद्वैत माना जाता है, किन्तु अविद्यासे आवृत चैतन्य, जो जीव कह-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाता है, उसकी ईश्वर या ब्रह्मके साथ एकता कदापि नहीं मानी जाती। क्योंकि अविद्या रहनेसे ही चैतन्यका जीव नाम पड़ता है, और अविद्या रहते एकता हो नहीं सकती। एकता होगी अविद्या निवृत्त होनेपर, और उस दशामें जीव, जीव ही न कहलायेगा। वह तो शुद्ध चैतन्य कहा जायेगा। यद्यपि अविद्याकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती, वह अनिर्वचनीय है। अतएव जीव दशा भी शुद्ध चैतन्यसे सर्वथा भिन्न नहीं कही जा सकती। किन्तु यह सब परमार्थ दशाकी बात है। जबतक अविद्या है तबतक तो व्यावहारिक जीव और ईश्वरका भेद ही बना हुआ है। इसीलिए वेदान्तसूत्र और वेदान्तके अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी कई जगह व्यवहार दशाके अनुरोधसे जीवको ईश्वर या परब्रह्मसे भिन्न ही लिखा है। और उसी अभिप्रायसे गोस्वामीजीने भी यहाँ जीवको सुख, दुःख, अहंकार, अभिमान आदिका आश्रय एवं ब्रह्मको उन सबसे रहित बताया है। यह अहंकार या अभिमान ही तो जीवको ब्रह्मसे पृथक् कर रहा है, और यही अविद्याका मुख्य कार्य है। जबतक यह निवृत्त न हो, भेद-वासना कैसे मिट सकती है और इसके निवृत्त हो जानेपर जीव दशा ही नहीं रहती। इसीलिए जीव दशामें ईश्वरकी समानताका गोस्वामीजी अन्यत्र भी निषेध करते हैं –

"जो अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कल्प भर नरक महुँ जीव कि ईस समान॥"

अर्थात् ईश्वर, शिव, विष्णु आदिके व ईश्वरविभूति सूर्य, अग्नि आदिके-से चरित जीव दशामें नहीं हो सकते। जो जीव दशामें वैसे चरित चाहते हुए एक प्रकार ईर्ष्या करते हैं, वे नरकमें जाते हैं। ठीक ही है। इस प्रकारका भेद सभी वेदान्ती सुस्पष्ट स्वीकार करते हैं। अतः गोस्वामीजीका मत यहाँ अद्वैतवादके कुछ भी विरुद्ध नहीं है। उन्होंने पारमार्थिक भेद तो बताया ही नहीं, केवल अभिमानवश जो व्यावहारिक भेद प्रसिद्ध है, उसका अनुवाद किया है। और उक्त दोहेमें तो परब्रह्म या ईश्वरका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
कोई प्रसंग ही नहीं है। वहाँ तो ऐश्वर्यशाली जीवोंके समान साधारण जीव नहीं हो सकते, यही मात्र अभिप्राय है। इसलिए ऐसे प्रकरणोंको पूर्वापर पर्यालोचन किये बिना अद्वैतवादके विरुद्ध मान लेना उचित नहीं। अस्तु। उसी व्यावहारिक जीवको दृष्टि अविद्यासे आवृत होनेके कारण उसको ब्रह्मका यथार्थ प्रकाश (बोध) नहीं होता।

अब यह और सन्देह होता है कि एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका भ्रम हुआ करता है, जैसे सीपमें चाँदीका। किन्तु ब्रह्म एक होता हुआ भी अनन्त रूप कैसे प्रतीत हो गया ? इसका उत्तर ग्रन्थोंके अनुसार ही श्री गोस्वामीजीने भी दिया है कि 'चितवत लोचन' इत्यादि।

अर्थात् जैसे मनुष्य अपनी आँखपर उँगली लगाकर आँखको ज़रा दबा दे, तो उसे दो चन्द्रमा दिखाई दिया करते हैं (चन्द्रमा एक ही है, किन्तु दृष्टि-दोषसे एकके दो दीख गये)। इसी प्रकार अविद्या रूप दृष्टि-दोषसे एक ही राम (ब्रह्म) अनेक रूप भासित हो जाता है। यहाँ एकमें अनेकताका भ्रम युक्ति-विरुद्ध नहीं। अस्तु।

इस भ्रमवाद (मायावाद) पर एक प्रश्न और भी किया करते हैं कि जो वस्तु चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जानी जाती है, उसीमें दूसरी वस्तुका भ्रम होता है, जैसा सीपमें चाँदीका इत्यादि। उसके सामान्यांशका ज्ञान और विशेषांशका अज्ञान भ्रमका कारण होता है, वह दिखाया जा चुका है। तब जो ब्रह्म किसी इन्द्रियका विषय नहीं, जिसके लिए श्रुतिमें 'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो गच्छति' लिखा है – अर्थात् जहाँ न आँख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है, न मन पहुँचता है, उस ब्रह्ममें किसीको कैसे भ्रम हो सकेगा ? जो किसी भी इन्द्रियका विषय ही नहीं, उसे किसी रूपसे कैसे समझा जा सकेगा ? इस शंकाका उत्तर भी शांकर-मतानुयायी ग्रन्थोंके अनुसार ही श्री गोस्वामी तुलसीदासजीने पूर्वोक्त चौपाईमें दिया है कि –

"उमा राम-विषयक अस मोहा। तम तन धूम धूरि जिमि सोहा॥"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् जैसे नभ (आकाश) किसी इन्द्रियका विषय नहीं, वह अप्रत्यक्ष पदार्थ है, किन्तु साधारण लोगोंको उसमें तम, (अन्धकार) या तत्सदृश कृष्ण-रूप धूम, (धूआँ) या धूलिका भ्रम हो जाया करता है। आकाश ऊपर अन्धकारके समान काला दिखाई देता है, यह बात साधारण ग्राम्य-मनुष्योंमें अति प्रसिद्ध है। और किसी-किसी कालविशेषमें कुछ प्रकाश और कुछ अन्धकारका सम्मिश्रण होनेपर दुर्बल चक्षुवाले मनुष्योंको आकाशमें धूम-जैसा भी भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है, और अवस्थाविशेषमें कभी कोई धूलिपटल-जैसा भी उसे समझ लेता है; तो जैसे आकाशके इन्द्रिय विषय न होनेपर भी उसमें कई प्रकारके भ्रम लोक-प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार इन्द्रियोंके अविषय राम (ब्रह्म) में भी जगद्-विषयक अनन्त प्रकारके भ्रम अल्पज्ञ जीवको अविद्याके कारण हो रहे हैं। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं।

अब यदि कोई कहे कि जब सम्पूर्ण जगत्को आप अवास्तव (मिथ्या) मानते हैं तो फिर ब्रह्म भी कदाचित् मिथ्या ही होगा। सभी प्रमाणसिद्ध-पदार्थ मिथ्या मान लिये गये, तो ब्रह्मकी यथार्थ सत्ताका ही साधक क्या रह गया ? इसका उत्तर है कि जो सबका प्रकाशक है, भाव, अभाव कोई जिसके बिना प्रकाशित नहीं हो सकता, उसे मिथ्या कैसे माना जाये ? वह मिथ्या हो तो उसके मिथ्यात्वका – उसके अपवादरूप अभावका, प्रकाशक और कोई चाहिए। लेकिन ऐसा है नहीं। वह सबका प्रकाशक है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है। इसी विषयका 'विषय करन सुर जीव समेता' इत्यादि चौपाइयोंसे स्पष्टीकरण रामायणमें किया गया है। अर्थात् विषयों (रूप, रस, घट, पट, आदि) की अपेक्षा करण-इन्द्रियके सम्बन्धसे ही विषयोंका प्रकाश हुआ करता है, और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सुर अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवता चेतन हैं। उनके बिना इन्द्रियाँ जड़ ही रहती हैं। बिना देवतानुग्रहके इन्द्रियोंसे ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता वेदान्त-शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं – जैसे चक्षुका सूर्य, त्वक्का पवन, श्रोत्र-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
की दिशा इत्यादि। इन इन्द्रियोंके अभिमानी देवताओंकी अपेक्षा भी इन सबका प्रेरक जीव सचेतन है। क्योंकि जीवके भोगके लिए ही इन देवताओंकी प्रवृत्ति है। किन्तु जीव भी जिसके प्रकाशसे प्रकाशित है, वह अनादि, सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक, मायाका अधीश होनेपर सर्व ज्ञान और सर्व गुणोंका आकर परब्रह्म श्रीराम है। उसीकी सत्यतासे जड़ भी माया सत्यवत् भासित हो रही है और अविद्या ही उसके सत्यवत् भासित होनेमें सहायक है। (वेदान्त-शास्त्रमें ईश्वरकी उपाधिको माया और जीवकी उपाधिको अविद्या कहते हैं। जीवकी अविद्या यद्यपि मायाका ही अंश है, किन्तु वह मायाके सत्य प्रतीत होनेमें सहायक अवश्य है। जब अविद्या निवृत्त हो जाती है तब मायाकी सत्यता प्रतीत नहीं होती। अविद्याको ही यहाँ श्री गोस्वामीजीने मोह कहा है।) आगे उपसंहार करते हैं कि जैसे सीपमें चाँदीका भास जहाँ हो जाता है, वहाँ सीप रूप अधिष्ठान ही सत्य है, चाँदी अनिर्वचनीय मिथ्या है, और सूर्यकी किरणोंमें मृग-तृष्णामें जहाँ जलका भ्रम हो जाता है, वहाँ जल भी सूर्यकी किरणों-की सत्तासे ही सत्तावाला है, अतएव अनिर्वचनीय मिथ्या है, उसकी तीनों कालमें कोई सत्ता नहीं। इसी प्रकार जगत् भी ब्रह्मकी सत्तासे ही भासित है, ब्रह्मसे अतिरिक्त यह कुछ नहीं, अतएव अनिर्वचनीय है, मिथ्या है। किन्तु चाँदी और जलकी तरह जबतक प्रतीत हो रहा है, तबतक है ही, भ्रम होनेपर भी इसे कोई हटा नहीं सकता।

यहाँ अद्वैतवादके विपक्षियोंकी ओरसे एक बड़ा भारी यह प्रश्न और उठता है कि यदि जगत् मिथ्या ही है तो फिर सुख, दुःख, धर्म, अधर्म सभी मिथ्या हुए। फिर मोक्षके लिए यत्न करना भी व्यर्थ ही है। जब बन्धन ही नहीं तब मोक्ष काहेका ? सुतरां धर्म और ज्ञानके लिए सभी शास्त्र जो जीवको प्रवृत्त करते हैं, एकान्ततः व्यर्थ हो जायेंगे। इस महा-प्रश्नका जो उत्तर वेदान्त शास्त्रमें दिया जाता है, और खूबीसे दिया जाता है, वही उत्तर श्री गोस्वामी तुलसीदासजीने भी उक्त चौपाईमें 'जदपि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

असत्य देत दुखु अहई' इत्यादि वाक्योंसे दिया है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक सत्ता न होनेपर भी जबतक जगत् अविद्यावश भासित है, तब-तक तो वह दुःख देता ही है। जैसा ज्ञानीयकी डींग मारते हुए सभी कह दिया करते हैं कि स्त्री पुत्र सब अपने-अपने कर्मका फल भोगते हैं, सभी अपना सुख चाहते हैं, कौन किसका साथी है, कोई किसीका नहीं, इत्यादि। किन्तु ज़रा स्त्रीकी पसली दुखते ही या पुत्रके ज़ुक़ाम होते ही सब ज्ञान उड़ जाता है, बेताब हो जाते हैं, फिरते हैं भागे-भागे। देखिए, कल्पित और मिथ्या सम्बन्धने भी दुःख दे ही तो दिया। गोस्वामीजीने यहाँ यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे स्वप्न सर्वथा मिथ्या है, यह सब ही जानते और मानते हैं, किन्तु स्वप्नमें भी यदि कोई सिर काटने लगे तो कितना दुःख होता है? और वह दुःख तबतक दूर नहीं हो सकता जबतक कि जाग न पड़े। जागनेपर भले ही हम मिथ्या समझते रहें, किन्तु जबतक स्वप्न-दशामें हैं, तबतक तो सब प्रकारका सुख-दुःख होता ही है। इसी प्रकार जबतक जीव अविद्या-दशामें है तबतक जगत्का सुख-दुःख बराबर उसके पीछे लगा है। यह भ्रम तभी दूर होगा, जब पूर्ण रीतिसे जाग जायेगा। अविद्यारूप स्वप्नसे जागना तत्त्वज्ञानसे ही हो सकता है, इसलिए शास्त्रोंमें कहा हुआ ज्ञानका उपदेश और उसकी प्राप्तिके लिए धर्माचरण कदापि व्यर्थ नहीं हो सकता। श्री गोस्वामीजी कहते हैं कि यह जगत्का भ्रम करुणानिधान श्रीरामकी कृपासे ही मिटता है। भगवान्का आदि-अन्त किसीने नहीं देखा, अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सब उसे गाते हैं। उसीकी पूर्ण भक्तिसे, उसीकी पूर्ण कृपा होनेपर मनुष्य सब भ्रमजालसे मुक्त हो सकता है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञान सबकी उपयोगिता सिद्ध कर दी गयी।

अब पाठक विचारें कि इन चौपाइयोंमें कितने गूढ़ दार्शनिक विचार हैं, और किस प्रकार वेदान्तके मन्तव्योंका स्पष्टीकरण किया गया है। क्या अब भी श्री गोस्वामीजीके शंकरमतानुयायी होनेमें कोई सन्देह रह जाता है?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत लोगोंका विचार है कि साकार ईश्वररूप विष्णु समय-समयपर भूमिपर अवतार लेते हैं, किन्तु गोस्वामीजी भगवान् श्री रामको सर्वव्यापक निराकार ब्रह्मका ही अवतार कहते हैं। उन्होंने निम्नलिखित चौपाइयोंमें अवतारवादका बड़ी मार्मिक रीतिसे उल्लेख किया है। अधर्मसे भीत होकर भूमि, देव-गन्धर्व आदिके साथ ब्रह्म-लोकमें पहुँची। वहाँ उसने रोकर अपना कष्ट सुनाया। ब्रह्माने कहा – मुझसे इस कष्टका प्रतीकार असम्भव है। आगे भूमिकी पीड़ापर लोग विचार करने लगे कि क्या किया जाये—

"बैठे सुर सब करहिं विचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ वचन इकु कहेऊँ॥
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥
देश काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जग मय सब रहित-बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटहिं जिमि आगी॥
मोर बचन सबके मन माना। साधु-साधु करि ब्रह्म बखाना॥
सुनि बिरंचि मन हर्ष तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोर कर सावधान मतिधीर॥"

चौपाइयोंका आशय स्पष्ट है कि भूमिकी पीड़ा मिटानेके लिए कोई देवता वैकुण्ठमें नारायणके समीप जानेको कहते थे, और कोई क्षीर-समुद्र-शायी भगवान्‌की शरणमें जानेका परामर्श देते थे। ठीक ही है, जिसका प्रीतिमय-भाव जिस स्थानपर लगा हुआ है, वहीं उसको ईश्वरकी सत्ता प्रतीत होती है। किन्तु अन्तमें भगवान् शंकरने सबको परामर्श दिया कि ईश्वर सर्वत्र समान रूपसे व्यापक है। उसके प्रकट करनेका साधन केवल प्रेम है। कोई देश, कोई काल, कोई दिशा, कोई विदिशा ऐसी नहीं कि जहाँ ईश्वर न हो। वह जगत्‌रूप है, 'जगन्मय' अर्थात् जगत्‌में व्यापक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
है, और सब जगत्से रहित या पृथक् भी है। दार्शनिक दृष्टिसे ये तीनों विशेषण बहुत बड़े महत्त्वके हैं। यद्यपि ये बातें देखनेमें विरुद्ध-सी दिखाई देती हैं, किन्तु विचारसे सब संगत हो जाती हैं। जिस प्रकार मृत्तिका ही घटरूप है, मृत्तिका घटके प्रत्यंशमें व्यापक है, और घट-अवस्थासे रहित भी मृत्तिका भिन्न देश और भिन्न कालमें मिलती है, इसी प्रकार सब जगह उपादान कारणके कार्यके साथ तीनों प्रकारके सम्बन्ध हो सकते हैं, अतः इन सम्बन्धोंके द्वारा ईश्वरकी (ब्रह्मकी) उपादानरूपता ही यहाँ स्फुटित की गयी है। आगे भगवान् शंकर कहते हैं कि इस प्रकारका ईश्वर, प्रेमसे अग्निकी तरह प्रकट हो जाता है। अर्थात् अग्नि सब पार्थिव पदार्थोंमें व्यापक है, किन्तु अप्रकट है, दो पत्थर या काष्ठ आदिके संघर्षसे स्थानविशेषपर प्रकट होकर वही अग्नि कई प्रकारके कार्य करने लगती है। साथ ही उस एक स्थानमें जानेसे अन्य सब स्थानोंमें व्यापक रूपसे रहनेवाली अग्निका अभाव नहीं हो जाता। इसी प्रकार परमात्मा जगत्के प्रत्यंशमें व्यापक है, वह भक्तोंके प्रेमसे कार्यविशेषके लिए स्थानविशेषमें प्रकट होता है। किन्तु एतावता अन्यत्र उसका उस समय अभाव हो गया, ऐसी आशंका निरी निर्मूल और अज्ञतासे भरी हुई है। अस्तु, भगवान् शंकरका परामर्श सबको उचित जान पड़ा और ब्रह्मा तो इससे बहुत ही सन्तुष्ट हुए। आगे उसी स्थानमें सबने मिलकर स्तुति की, और वहीं आकाशवाणी-द्वारा रामावतार ग्रहण करनेकी आज्ञा सबको सुनाई दी, इत्यादि कथा चलती है।

पाठक देखेंगे कि यहाँ गोस्वामीजीने वेदान्त-शास्त्राभिमत ब्रह्मका ही अवतार बताते हुए अवतारवादके विपक्षियोंको भी मुँहतोड़ उत्तर दिया है। और इस प्रकरणसे भी उनकी अद्वैतमतानुयायिता स्पष्ट होती है।

आगे भी बाललीलामें उन्होंने व्यापक ब्रह्मका ही अवतार भगवान् रामचन्द्रको बताया है—

"व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् जो ब्रह्म सब देश और सब कालमें व्यापक है, जो अकल अर्थात् प्राण, श्रद्धा आदि प्रसिद्ध सोलहों कलाओंसे रहित है जो अनीह अर्थात् सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित है, अज अर्थात् जिसका जन्म कभी नहीं होता और निर्गुण अर्थात् अवस्था रूप कोई गुण जिसमें नहीं है, अतएव जिसका नाम और रूप कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि रूप अर्थात् आकार होना गुणकी सत्ताके अधीन है। गुणके बिना आकार हो ही नहीं सकता और नाम भी किसी-न-किसी गुणको लेकर ही प्रवृत्त होता है। तब जहाँ गुण ही नहीं, वहाँ नाम और रूपकी क्या कथा। इस प्रकारका भी भक्तोंके लिए अवतार ग्रहण कर परब्रह्म विविध प्रकारके अनुपम चरित्र करता है।

इस दोहेके पूर्वार्द्धमें जितने विशेषण दिये गये हैं, वे सब एकान्ततः शंकर-सिद्धान्तके अनुकूल हैं। अन्य सिद्धान्तोंमें इन विशेषणोंकी स्वरसता कदापि सुसंघटित नहीं होती। अर्थात् इस प्रकारका ब्रह्म दूसरे सिद्धान्तोंमें नहीं माना जाता।

अबतक गोस्वामीजीके दार्शनिक विचार प्रकट करनेके लिए जितने उद्धरण दिये हैं, वे सब बालकाण्डके हैं। विचारपूर्वक अवलोकन करने-पर विज्ञ पाठकोंको बालकाण्डमें और भी स्थलोंपर ऐसे विचार प्राप्त होंगे। किन्तु हम लेख-विस्तारके भयसे बालकाण्डसे इतने ही उद्धरण देकर अब अयोध्याकाण्डके भी दो-एक स्थल उदाहरणार्थ दिखाते हैं। सीता, लक्ष्मण सहित भगवान् रामचन्द्रके वनगमनके समय निषाद-राज गुह जब भगवान्‌को भूमिशयन करते देख व्याकुल हो उठे और कैकेयी आदिको बुरा-भला कहने लगे, उस समय श्री लक्ष्मणजी उन्हें समझाते हैं—

"बोले लषन मधुर-मृदु बानी। ग्यान-बिराग-भगति-रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज-कृत कर्मभोग सब भ्राता॥
जोग वियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। सम्पति बिपति करम अरु कालू॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह-मूल परमारथ नाहीं॥
सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ॥"

यह प्रकरण इतना स्फुट है कि विस्तृत व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यहाँ जन्म, मरण, सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, धन, धान्य, स्वर्ग, नरक आदि जितने व्यवहारके विषय हैं, जो-जो पदार्थ देखे, सुने, विचारे जाते हैं या बुद्धिमें आ सकते हैं, उन सबको मोह (माया) मूलक और यथार्थ अर्थात् झूठा बताया गया है। और प्रपंचके सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदिको स्वप्नके सदृश स्पष्ट ही कहा है। इसके आगे भी—

मोह-निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहि जग-जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच-बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय-बिलास बिरागा॥

इत्यादि चौपाइयोंमें जगत्के व्यवहारमें निरत पुरुषको स्वप्न देखनेवाला और योगी, विरक्त, प्रपंचमिथ्यात्ववादीको जागनेवाला बताया गया है, अतः यह प्रकरण भी सम्पूर्णतः शांकर अद्वैतमतकी व्याख्याके अनुकूल ही है।

राम, लक्ष्मण और सीताके वनमें चलनेके सम्बन्धमें जो श्री गोस्वामीजीकी अत्यन्त हृदय-ग्राहिणी मार्मिक उपमा है, उससे भी अद्वैतवादकी बड़े विलक्षण चमत्कारसे पुष्टि की गयी है।

"आगे राम लषन पुनि पाछे। तापस वेष बिराजति काछे॥
उभय मध्य सिअ सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥"

राम और लक्ष्मणके बीचमें सीता कैसी हैं – जैसे जीव और ब्रह्मके बीचमें माया। माया ही जीव और ब्रह्मके मध्यमें है, वही जीव और ब्रह्मका भेद करा रही है। यदि माया बीचमें न हो तो जीव फिर ब्रह्म ही है, उनमें कोई भेद नहीं। कितनी मार्मिक अद्वैतकी छटा है!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी अभेदवादको कुछ ही आगे चलकर गोस्वामीजीने इतना स्पष्ट कर दिया है कि मानो वहाँ अद्वैतामृतकी वर्षासे जिज्ञासुजनके मनोमयूर सहसा नाच उठते हैं। भगवान् रामचन्द्र श्री वाल्मीकि मुनिके आश्रममें जाकर उनका आतिथ्य ग्रहण कर उनसे अपने रहनेके लिए स्थान पूछते हैं। उस अवसरपर वाल्मीकि मुनि, जो रामचन्द्रको परब्रह्मका स्पष्ट अवतार समझते थे, अपना कथन यों आरम्भ करते हैं –

"श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीश-माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महिधर लषनु सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज-तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥
राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥
जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि-सम्भु नचावनहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। अउर तुम्हहिं को जाननहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर-चन्दन॥
चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत-बिकार जान अधिकारी॥
पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहिं देखावौं ठाउँ॥" इत्यादि।

विज्ञ पाठक देखेंगे कि यहाँ पहले छन्दमें श्रीरामको जगन्नियन्ता परब्रह्म और श्री सीताको मायाका अवतार वाल्मीकि मुनिने कहा है, और ब्रह्मकी इच्छाशक्ति-द्वारा प्रेरित, क्रिया-शक्ति-रूप मायाको ही संसारकी उत्पादक, पालक और संहारक बनाया है। इससे प्रपंच (संसार) की मायिकता तो स्फुट हो ही जाती है। आगे शेषावतार रूपसे लक्ष्मणकी स्तुति कर, और तीनोंके अवतार-धारणका प्रयोजन बताकर राम (परब्रह्म) का स्वरूप मन और वाणीके अगोचर बताते हुए नेति-नेति श्रुति-द्वारा ब्रह्मके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
निरूपणका स्मरण कराया गया है, यह स्पष्ट शांकर मत है। भगवान् शंकराचार्य ही परब्रह्मको सर्वधर्म-रहित, निर्विशेष अतएव मन और वाणी दोनोंका अविषय कहते हैं। जिस वस्तुमें कोई धर्म (गुण) होता है, वाणी उसीका प्रतिपादन कर सकती है, और मन उसीको ग्रहण करता है। विना धर्मके कोई वस्तु कभी मनमें आती हुई नहीं देखी जाती। फिर जो मनमें ही न आ सके, वाणीको उसे बतानेकी क्या शक्ति है? मन ही अपने निश्चित किये हुए पदार्थको वाणी-द्वारा प्रकट कराया करता है। अतः निर्धर्मक या निर्गुण पदार्थ न मनका विषय हो सकता है, न वाक्का। अथवा यों कहे कि धर्म या गुण ही मनके द्वारा गृहीत और वाक्के द्वारा प्रकाशित हुआ करते हैं। गुणोंके अतिरिक्त और पदार्थका स्वरूप हम समझते ही क्या है? श्वेत, कृष्ण, ठण्डा, गरम, लम्बा, चौड़ा, सुख-हेतु, दुःख-हेतु, उत्तम, अधम इत्यादि जो कुछ हम समझते हैं, वह सब गुण ही तो हैं। वाणीसे भी शब्दोंके द्वारा भिन्न-भिन्न गुण हो प्रतिपादित हुआ करते हैं। गुणोंके ही ग्रहण और प्रकाशनका मन और वाणीका स्वभाव है। अतः जिसमें कोई गुण या धर्म नहीं, ऐसे निर्गुण या निर्धर्मक पदार्थके मन और वाणीका विषय होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। अतएव श्रुति किसी शब्द-द्वारा साक्षात् परब्रह्मका प्रतिपादन नहीं कर सकती, किन्तु बिना श्रुतिके प्रतिपादन किये ब्रह्मको जाननेका और कोई उपाय भी नहीं है; अतः 'नेति'-'नेति' कहती हुई श्रुति सब गुणों और धर्मोंके निषेध-द्वारा ब्रह्मको उपलक्षित करती है। अर्थात् जो गुण या धर्म संसारमें हमारी दृष्टिमे आते हैं, वे सब ब्रह्ममें नहीं हैं, ब्रह्म सब धर्मोंसे रहित, अकथनीय, अपार है, इतना ही ब्रह्मके विषयमें कहकर श्रुति चुप हो जाती है। यही ब्रह्मके विषयमें श्री शंकराचार्यका सिद्धान्त है, और यही यहाँ श्री गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंसे सुस्पष्ट प्रतिपादित हुआ है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब मन और वाणी ब्रह्मका स्पर्श नहीं कर सकते, तब ब्रह्मका ज्ञान कैसे होगा? और यदि ज्ञान ही न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
हुआ तो ब्रह्म है, यही कैसे सिद्ध होगा ? फिर तो ब्रह्म सर्वथा शून्यरूप हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं, जिसका ज्ञान होना आवश्यक हो। वह तो सबका ज्ञाता है। जो ज्ञाता है, उसे ही जानना चाहेंगे, तो ज्ञाता और किसीको मानना होगा। किन्तु ब्रह्मके अतिरिक्त ज्ञाता और कोई है नहीं, अतः ब्रह्म प्रपंचका साक्षात् द्रष्टा, साक्षी, स्वतः प्रकाश है। उसके जाननेके लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, और वह सब प्रमाणोंका प्रवर्तक, बिना प्रमाणके ही स्वतः सिद्ध है। किसी ज्ञाता (जाननेवाले) को अपने स्वरूपके सम्बन्धमें कभी सन्देह नहीं होता, कि मैं हूँ या नहीं। और न कोई अपनेको किसी प्रमाणके द्वारा जाननेका ही यत्न करता है, क्योंकि अपना स्वरूप तो बिना प्रमाणके ही स्वतः सिद्ध है। प्रत्यगात्म-स्वरूप ही परब्रह्म वेदान्त सिद्धान्तमें माना गया है, अतः ब्रह्मकी सिद्धिके लिए उसके प्रमाणजनित ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। यही सिद्धान्त गोस्वामीजीने दिखाया है कि 'जग पेखन तुम्ह देख-निहारे।' जगत् दृश्य है और आप द्रष्टा हैं। आगे श्रीयुत वाल्मीकि मुनि-की उक्तिमें गोस्वामीजी रामको ब्रह्मा, विष्णु, शिव सबके नचानेवाले अर्थात् अपने-अपने कार्यमें प्रवर्तक कहते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी आपको नहीं जान सकते, तो और कौन जानेगा, इस प्रकार सर्वथा रामकी अज्ञेयता दृढ़ करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीनों ब्रह्मके ही उपाधिविशिष्ट स्वरूप हैं, तीनों ही सृष्टि, पालन और संहाररूप अपनी-अपनी क्रियाओंमें ईश्वर कहे जाते हैं, परन्तु निरुपा-धिक शुद्ध ब्रह्म, जो तुरीय (चौथा) कहलाता है, वह इन तीनों रूपोंसे भी परे हैं, या यों कहिए कि उसी मूलके आधारपर ये तीनों रूप भी अवस्थित हैं। उसीकी सत्तासे ये तीनों सत्तावान् हैं, और उसीकी शक्ति-द्वारा ये सब शक्तिमान् हैं। यद्यपि शिव, विष्णु आदिके उपासक अपने उपास्यसे पृथक् ब्रह्मको नहीं समझते, और पृथक् वस्तुतः हैं भी नहीं, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तमें ब्रह्मसे पृथक् तो किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
मानी जाती, फिर शिव, विष्णु आदि तो केवल अधिकारोपाधि मात्रका भेद रखते हैं, वे ब्रह्मसे पृथक् या ब्रह्म उससे पृथक् क्यों माना जायेगा। तथापि सृष्टि आदि कार्योंके अधिकार-द्वारा व्यवहार दशामें तीनों रूपसे भासित होते हुए ब्रह्मा, विष्णु और शिवका वस्तुतः जहाँ अभेद है, वह तीनोंसे परे चतुर्थ रूप व्यवहारके अनुरोधसे मानना ही पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा सृष्टि बताते हैं, विष्णु उसका पालन करते हैं, रुद्र अन्तमें संहार करते हैं, ऐसी व्यावहारिक प्रसिद्धि है। तो इस व्यावहारिकके अनुसार ब्रह्माका कार्य विष्णु नहीं करते और विष्णुका कार्य ब्रह्मा नहीं करते, इत्यादि रूपसे कार्य-द्वारा इन तीनोंका भेद ही दृष्टिमें आता है। परन्तु वस्तुतः एक ही चित्स्वरूप रजोगुण प्रधान मायाशक्तिके सम्बन्धसे सृष्टि कार्य करता हुआ ब्रह्मा, वही सत्त्वगुणप्रधान मायाशक्तिके सम्बन्धसे पालन करता हुआ विष्णु, और वही तमोगुणप्रधान मायाशक्तिके सम्बन्धसे संहार करता हुआ रुद्र कहलाता है। अतः इनमें केवल कार्य और कार्यके अनुकूल शक्तिरूप उपाधि-मात्रका भेद है, चित्स्वरूपतामें कोई भेद नहीं। जैसे एक ही पुरुष जिस समय पीताम्बर पहने, गोमुखी हाथमें लिये, भस्म-तिलकाच्छन्न होकर कुशासनपर बैठकर जप करता है, उस समय धार्मिक, और जिस समय अदालतकी कुरसीपर बैठकर कोट-बूट पहने हुए न्याया-न्यायका विवेचन कर रहा है, उस समय जज, एवं जिस समय दिन-भरके कामसे थककर सब वस्त्र आदि उतारे चारपाईपर शयन करता है, उस समय एक निद्रालु आलसी पुरुष कहा जाता है। इन समयोंमें उसकी क्रिया और क्रियाके अनुकूल शक्ति एवं स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु तीनों दशाओंमें देखकर अनुसन्धान करनेवाला पुरुष ठीक समझ लेता है कि पुरुष एक ही है, भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न कार्य करता हुआ भिन्न प्रतीत होता है। इसी दृष्टान्तके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्रका भी भेदाभेद जानना होगा। कार्योपाधि-द्वारा ये भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु एक ही चिद्रूपके अनुगत होनेसे सर्वथा अभिन्न या एक ही हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
भेद दशामें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ये पृथक्-पृथक् नाम हैं, अभेद दशामें परब्रह्म एक ही नाम है। यद्यपि कहा जा चुका है कि मन और वाणीका अविषय होनेसे उस अभिन्न चिद्रूपका कोई नाम नहीं हो सकता, तथापि बिना संकेतके अर्थ समझाना असम्भव है, इसलिए उसका तुरीय या परब्रह्म नाम कल्पना कर लेते हैं। अस्तु, तीनोंका व्यावहारिक भेद जहाँ जाकर मिट जाता है, वह अभिन्न चिद्रूप तीनोंमें अनुगत और तीनोंका आधार होनेके कारण तीनोंसे पर तुरीय (चतुर्थ) कहलाता है, और कार्योपाधि परिच्छिन्न इन तीनों दशाओंकी अपेक्षा वह अपरिच्छिन्न, पर तत्त्व, विभु होनेसे इनके द्वारा भी अज्ञेय है। उपाधिविशिष्टज्ञाताको अपने स्वरूपका साक्षात्कार परिच्छिन्न रूपमें ही हो सकता है, और ऐसा होनेपर भी अपरिच्छिन्न (किसी देशकाल आदिमें न रहनेवाला रूप) विभु, चित्, सर्वथा अज्ञेय ही रहता है। जैसे जीव स्वतः ब्रह्मरूप होनेपर भी अविद्यारूप उपाधिसे परिच्छिन्न होनेके कारण अपनी ब्रह्मरूपताका अनुभव नहीं कर सकता, वेदान्तवाक्यजनित ज्ञान हो जानेपर भी देह सम्बन्ध रहने तक परिच्छिन्नता सर्वथा हटती नहीं, इसी प्रकार ब्रह्मा आदि भी सृष्टि आदि क्रियाओंके साथ ही अपने स्वरूपका अनुभव करते हैं। अर्थात् 'मैं सबका पैदा करनेवाला हूँ' 'मैं सबका पालन करनेवाला हूँ' इसी प्रकार वे अपना स्वरूप समझते हैं। सर्वधर्म-शून्य और सर्वक्रिया-शून्य स्वरूपका भान उन्हें भी नहीं होता। यद्यपि जीवकी उपाधि मलिन, सत्त्वप्रधान, अविद्या कहलाती है, और जीवको वशमें रखती है किन्तु ब्रह्मा आदिकी उपाधि शुद्ध सत्त्व प्रधान माया है और ब्रह्मा आदिके वशमें है। किन्तु इतना भेद होनेपर भी उपाधि सम्बन्ध रहनेसे परिच्छिन्नता ब्रह्मा आदिमें भी है ही। अतः परब्रह्म जो स्वरूपतः अज्ञेय है, उसका ज्ञान उनको भी नहीं होता। इसी आशयसे पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर ऐसे निरूपण देखे जाते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव सब ब्रह्म या शक्तिके वशमें हैं, इनको नचानेवाली भी कोई शक्ति है, ये भी उसे नहीं जान सकते, ये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी गुण-धर्मोंमें बद्ध हैं, इत्यादि। अथवा शिव विष्णुका तत्त्व नहीं समझ सकते 'या विष्णु शिवका माहात्म्य नहीं जान सकते' इत्यादि। औपाधिक भेद ही इस प्रकारके पौराणिक वर्णनोंका आधार है, और इसी आधारपर श्री गोस्वामीजीने भी यहाँ 'विधि-हरि-सम्भु नचावनहारे' और 'तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा' लिखा है। ये सब ईश्वर होते हुए भी अपने-अपने अधिकार और कार्यकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न रूप हैं और सर्वशक्तियोंके अधिष्ठान परब्रह्म रूपसे अपर कक्षाके हैं; यही ज्ञान-काण्डमें माना है। किन्तु उपासनाका मार्ग कुछ भिन्न है। मन और वाणीके अगोचर तुरीयकी तो उपासना हो ही नहीं सकती, क्योंकि चित्तवृत्तिकी तदाकारताका नाम उपासना है और तुरीयाकार चित्तवृत्ति होती नहीं। यदि तदाकार चित्तवृत्ति हो जाती, तो फिर ब्रह्म मनका अविषय या अज्ञेय ही क्यों कहलाता? सुतरां, तब उपासकको किसी कार्याधिकारी उपाधिविशिष्ट स्वरूपकी ही उपासना करनी होगी। अब इतना स्मरण रहे कि उपासक चाहे अपने अधिकार और रुचिके अनुसार किसी स्वरूपकी उपासना करे, किन्तु वह वहाँ उपाधिसे कुछ सम्बन्ध न रखता हुआ परब्रह्म रूपसे ही अपने उपास्यकी भावना करेगा, यही 'प्रतीकोपासना' का मार्ग है। वस्तुतः सबका मुख्य प्राप्य चिद्रूप ही है, अतः उसीकी उपासनाकी ओर सब अभिमुख हैं, किन्तु बिना उपाधिके वह शुद्ध चिद्रूप, भावनाका विषय नहीं होता, इसलिए सोपाधिक रूपको अवलम्ब बनाकर विभु चिद्रूपकी उपासना की जाती है। पूर्वोक्त जापक और जज पुरुषके दृष्टान्तपर यों समझिए कि बिना किसी क्रियाके उस पुरुषकी भावना कोई नहीं कर सकता। जब कभी वह पुरुष भावनामें आयेगा, तब बैठा है, चलता है, सोता है, जप करता है, न्याय करता है, इत्यादि किसी क्रियाके साथ ही आयेगा। क्रिया-मात्रको हटाकर शुद्ध पुरुषरूपकी भावना त्रिकालमें भी नहीं हो सकती। किन्तु जो विचारक यह अनुसन्धान कर चुका है कि सब काम करनेवाला वह पुरुष एक ही है, वह चाहे किसी अवस्थाका स्मरण करे,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उसके साथ ही यह भी समझ लेगा कि अन्यान्य कार्य करनेवाला भी यही है। यदि न्यायालयमें बैठे हुए स्वरूपकी भावना किसीने की, तो वह समझ लेता है कि प्रातः कुशासनपर जप करनेवाला भी यही है, और जप करते हुए स्वरूपकी भावना किसीने की तो वह समझ लेता है कि रात्रिको खट्वा-पर सोनेवाला भी यही है, इत्यादि। यों क्रियाविशिष्ट पुरुषको अवलम्ब मानकर भी सब क्रियाओंमें अनुगत क्रियाशून्य-पुरुषपर वृत्ति चली जाती है। इसी प्रकार जो विष्णु स्वरूपके उपासक हैं, वे पालन-शक्ति-विशिष्ट चिद्रूपपर चित्त लगाते हुए भी चिद्रूपसे उसीको उत्पादक और संहारक समझते रहते हैं और शिव रूपमें चित्त लगानेवाले उसीको सब कार्योंका अधिष्ठाता मानते हैं। सभी उपासक अन्यान्य सब रूपोंकी अपेक्षा अपने उपास्य रूपको पर मानते हैं, उस रूपको साक्षात् परब्रह्म या अन्यान्य रूपोंको उसका अनुगत अपर देवता समझते हैं, तभी उनकी उपासना दृढ़ होती है। वस्तुतः उपाधि-अंशको छोड़ देनेपर सभी परब्रह्म हैं, और उपाधि-अंशको साथ लेनेपर सभी रूप परब्रह्मसे कुछ अपकृष्ट कोटिके हैं। परन्तु उपासक अपने उपास्यमें-से तो उपाधि अंशको छोड़कर परब्रह्म रूपसे उसकी भावना करता है, क्योंकि वह रूप उसने परब्रह्मकी उपासनाका अवलम्ब या प्रतीक मान रखा है। उसमें ब्रह्मभावना किये बिना उपासना ही कैसे हो। और अन्यान्य रूपोंसे उसका प्रयोजन न होनेके कारण वे व्यवहारमें जैसे प्रतीत होते हैं, तदनुसार उनको उपाधिविशिष्ट ही मानता रहता है। सुतरां उसका उपास्य औरोंसे पर हो ही गया। अतएव किसी उपासककी भावना मिथ्या नहीं होती, और सभी उपासक अपनी-अपनी सत्य भावनासे अपना परम प्राप्य प्रयोजन पा लेते हैं। हमारे गोस्वामीजी राम-स्वरूपके उपासक हैं, अतः वे रामको साक्षात् पर ब्रह्म एवं ब्रह्मा, विष्णु, आदि और सब रूपोंको रामके अनुगत मानते हैं। इसीसे रामके लिए उनका 'बिधि-हरि-शम्भु नचावनहारे' कहना बिलकुल ठीक है। और शैवोंका रामको शिव-भक्त, एवं शाक्तोंका राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सबको शक्ति-परतन्त्र कहना भी बिलकुल ठीक है। अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार व्यवहार दशामें सबकी ठीक उपपत्ति लग जाती है। इस कारण जिन सज्जनोंके ऐसे विचार हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी निरे वैष्णव ही थे, अतएव उन्होंने स्थान-स्थानमें शिवको विष्णुका भक्त बनाया है, वे सज्जन बिलकुल ग़लतीपर हैं। गोस्वामीजी अद्वैत-सिद्धान्तके पूरे अनुयायी होते हुए भी अपने अधिकारानुसार रामरूपके अनन्य उपासक हैं, और राममें परब्रह्मकी एवं विष्णु, शिव आदि सबमें उनके भक्त या अनुगत होनेकी भावना करते हैं। विष्णुरूपसे विष्णुका शिवसे उत्कर्ष उन्होंने कहीं नहीं लिखा। विष्णु स्वरूपका उपासक वैसा कह सकता है, राम कृष्ण आदि सबको विष्णुके अवतार व समान रूप मान सकता है। किन्तु गोस्वामीजी केवल राम स्वरूपके अनन्य भक्त हैं, वे और जगह ब्रह्म-भावना नहीं करते। अतएव कृष्ण मन्दिरमें जाकर रामकी भावनासे प्रणाम करनेकी और कृष्णरूपके रामरूप हो जानेकी उनके सम्बन्धकी कथा सुप्रसिद्ध है। अस्तु, तात्पर्य यही निकला कि ब्रह्मा, विष्णु, शिवको उपाधिविशिष्ट रूप और इन तीनोंसे पर एक तुरीय रूप गोस्वामीजीने यहाँ स्पष्ट माना है, जो कि शांकर अद्वैत सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल हुआ। वैष्णव दर्शनोंके अनुसार विष्णुको 'परतत्त्व' कहा। वे इन दोनोंको एक कोटिमें मानते हैं और अपने उपास्य रामको 'बिधि-हरि-शम्भु नचावनहारे' कहते हैं। उनके विचारमें राम विष्णुके अवतार नहीं, परब्रह्मका रूप-ग्रहण हैं। ये सब विचार शांकर सिद्धान्तमें ही उपपन्न हो सकते है, और मतोंमें इन विचारोंकी कोई उपपत्ति नहीं।

आगे वाल्मीकि मुनिने कहा है कि राम ! आपको वही जान सकता है, जिसे आप स्वयं अपना स्वरूप जनाते हैं। यह 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इस श्रुतिका अनुवाद है, और 'आपको जानते ही वह जाननेवाला आप रूप ही हो जाता है।' यह 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिका स्पष्ट अनुवाद है। राम (ब्रह्म) का जाननेवाला राम (ब्रह्म) ही हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
जाता है, इससे बढ़कर भला अद्वैतवादका सिद्धान्त गोस्वामीजी क्या लिख सकते थे।

ज्ञानके साधनोंमें गोस्वामीजी भक्तिको सबसे उत्कृष्ट अवश्य समझते हैं, किन्तु भक्तिसे ईश्वरकी प्रसन्नता सम्पादित कर ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है, यह सिद्धान्त उक्त चौपाईसे प्रस्फुटित हो गया है। 'जिसको आप जानते हैं, वही जानता है', यहाँतक भक्ति ज्ञानका साधन रही। और 'आपको जानते ही आपरूप हो जाता है', यह ज्ञानका फल बताया गया। ज्ञानके अनन्तर किसी साधनविशेषकी आवश्यकता नहीं रहती, न साधन उस समय हो ही सकता है, यही शांकर सिद्धान्त है। अतः इस सिद्धान्तका भी यहाँ गोस्वामीजीने पूर्ण अनुगमन किया। और आगे भी 'आपकी कृपासे भक्त लोग, आपको जान सकते हैं, आपका स्वरूप चिदानन्दमय, विकार-रहित है। उस स्वरूपको उसके अधिकारी ही जानते हैं...' इत्यादि कहते हुए ज्ञान व उसके अधिकारीकी श्रेष्ठता स्फुट रूपसे बतायी है। 'मुझसे आप पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ—सो इसका उत्तर देनेमें मुझे बड़ा संकोच है। मैं नहीं जानता कि आप कहाँ नहीं हैं। यदि कहीं न होते तो वहाँ रहनेका स्थान बताता' इत्यादि उक्ति-चातुरीसे आगे भी भगवान् वाल्मीकिके वाक्योंमें रामकी व्यापकता-का ही विस्तार बताया गया है। किन्तु आगेकी चौपाइयोंका प्रकृत विषयसे कोई सम्बन्ध न होनेके कारण उनपर विस्तारसे लिखना आवश्यक है।

यों अयोध्याकाण्डमें अद्वैतवादके दो-एक निदर्शन दिखाकर अब हम अपने पाठकोंका अरण्यकाण्डपर दृष्टिपात कराना चाहते हैं। अरण्यकाण्डमें एक तत्त्वज्ञानका ख़ास प्रकरण है, जहाँ लक्ष्मणके प्रश्नपर स्वयं भगवान् रामचन्द्रने जीव, ईश्वर, माया आदिका स्वरूप समझाया है। कहनेकी आवश्यकता न होगी कि यह प्रकरण भी अक्षरशः शांकर सिद्धान्तके अनु-कूल है। अध्यात्मरामायणके अरण्यकाण्डमें तत्त्वज्ञान विषयपर राम-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
लक्ष्मणका ऐसा शंकावाद मिलता है। उसीके आधारपर श्री गोस्वामीजीने भी अरण्यकाण्डमें यह संवाद लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामीजीने अध्यात्मरामायणके इस तत्त्वज्ञानके प्रकरणको अति संक्षिप्त कर दिया है, जैसा कि प्रायः ग्रन्थ विस्तारसे बचनेके लिए वे सर्वत्र ही करते हैं। किन्तु फिर भी स्वच्छ दर्पणकी तरह इसमें अद्वैतवादके मुख्य तत्त्व स्फुट प्रकाशित हो रहे हैं। अब पाठक उस प्रश्नोत्तरकी ओर सावधान होकर दृष्टिपात करें—

"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछों निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरण-रज-सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥
ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥"

प्रश्नके शब्द अत्यन्त स्पष्ट हैं। एकान्तमें बैठे प्रभु रामचन्द्रसे लक्ष्मणने ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, जीव, ईश्वर और उनके भेद तथा उन सबका स्वरूप समझानेकी प्रार्थना की है। अब भगवान् रामचन्द्रका उत्तर सुनिए—

"थोरेहि महुँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मनु चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तें माया। जेहिबस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके॥
ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन-सम सिद्धि तीनि-गुन-त्यागी॥
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बन्ध मोच्छ-प्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला॥"

यह प्रकरण अत्यन्त गम्भीर और अति संक्षिप्त है। सब तत्त्वोंको बहुत थोड़ेमें समझाया गया है। आरम्भमें भगवान् प्रतिज्ञा भी यही करते हैं कि मैं थोड़ेमें सब समझाकर कहता हूँ, तुम मन, बुद्धि और चित्त तीनों वृत्तियोंको एकाग्र करके सुनो। प्रश्नके क्रमको छोड़कर सबसे पहले भगवान् रामचन्द्रने मायाका निरूपण किया है, क्योंकि माया सबका कारण है, इस हेतु मायाके निरूपणके बिना औरोंका निरूपण कठिन है। मायाका स्वरूप संक्षेपमें यों बताया गया है कि मैं-मेरा और तू-तेरा यह माया है, जिसने सब जीवोंको वशमें कर रखा है। तात्पर्य यह हुआ कि अहंबुद्धि (अहंकार) ममबुद्धि (ममता) और मैं-तू, मेरा-तेरा आदि भेद-बुद्धि ये सब मायाके परिणाम हैं, इन्हीं बुद्धियोंके द्वारा मायाका परिचय हो सकता है। ब्रह्म सर्व-वृत्ति-शून्य, सर्व-भेद-शून्य, स्वतन्त्र एक रस है, वहाँ न अहंवृत्ति हो सकती है, न 'मम'वृत्ति हो सकती है। अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं, फिर 'मम' (मेरा) किसको कहा जाये ? और बिना भेदके मेरा और तेरा आदि भेदकी प्रतीति भी सर्वथा नहीं बन सकती। ऐसी स्थितिमें भी जो एक विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति अहन्ता, ममता और भेद आदिकी सब प्रतीति करा देती है, वही माया है। इस मायाके बन्धनमें आकर ही जीव संसारी होता है। इसी प्रकरणमें अध्यात्म रामायणमें मायाका निर्वचन यों किया गया है –

"अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत्।
सैव माया तयैवासै संसारः परिकल्प्यते॥"

अर्थात् आत्मारूप न होनेपर भी शरीरादिमें जो आत्मबुद्धि है, वही माया है, और वही संसारकी कल्पना करती है। अहंबुद्धि सदा शरीर,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
इन्द्रिय आदिको अन्तर्गत अवश्य रखती है। शरीर, इन्द्रिय, मन सबको छोड़कर शुद्ध आत्मा अहंबुद्धिका विषय नहीं होता; क्योंकि वह निर्गुण, निष्क्रिय है, और अहंबुद्धि गुण, क्रियाको साथ लेकर ही प्रवृत्त होती है। सत्य तो यह है कि शरीर आदिका आत्माके साथ एकीकरण या अध्यास करानेवाली यह अहंबुद्धि ही है। इसीसे जहाँ अध्यात्म रामायणमें अनात्मामें आत्माभिमानको माया कहा गया था, वहाँ गोस्वामीजीने अहंबुद्धिको ही माया कह दिया। शब्दमें भेद है, बात एक ही है। इसपर किसीको यह सन्देह हो सकता है कि केवल अन्तःकरण वृत्तिको ही माया कहते हैं, और जगत्की बनानेवाली प्रकृति कोई और ही है। इस सन्देहको सर्वथा निराकृत करनेके लिए आगे श्री गोस्वामीजी स्पष्ट कर देते हैं कि गो-गोचर अर्थात् इन्द्रियोंका विषय जो कुछ हो सकता है और न केवल इन्द्रियोंका, प्रत्युत मन भी जहाँतक जा सकता है, अर्थात् मनका भी जो कुछ विषय हो सकता है, जहाँतक इन्द्रियोंकी और मनकी पहुँच है, उस सबको माया ही समझो। इन्द्रियोंके विषय, नाम और रूप, एवं मनके विषय, इनके संस्कार, इन सबको यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें माया वा मायिक कहा गया है, यह सब शांकर-सिद्धान्तके अनुसार है। आगे कहते हैं कि उस मायाके दो भेद हैं – एक विद्या, दूसरी अविद्या। एक अर्थात् अविद्या जिसे अज्ञान या अन्यथा ज्ञान भी कहते हैं, अत्यन्त दुष्ट और दुःखरूप है, जिसके वशमें आकर जीव संसार-रूप कूपमें गिरा हुआ है। और एक अर्थात् दूसरी (अविद्यासे भिन्न) विद्या संसारकी रचना करती है। उसके वशमें गुण सत्त्व, रज, तम हैं, किन्तु वह प्रभुकी प्रेरणासे संसारकी रचना करती है, अपना बल उसके पास कुछ नहीं है। वेदान्तशास्त्रमें ईश्वरकी उपाधिको शुद्ध सत्त्वप्रधान माया और जीवकी उपाधिको मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या कहा गया है। यहाँ श्री गोस्वामीजीने ईश्वरकी उपाधिका विद्या शब्दसे उल्लेख कर दिया। अविद्यासे विलक्षण होनेके कारण तथा सत्त्वप्रधान होनेके कारण ही सम्भवतः उसे विद्या कहा गया है। पहले लिखा जा चुका है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि अध्यात्म रामायणके आधारपर ही यह तत्त्व-निरूपण है। और अध्यात्म रामायणमें—

"रूपे द्वे निश्चिते पूर्वे मायायाः कुलनन्दन।
विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत्॥
लिङ्गाद्यब्रह्मपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः।
अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपामावृत्य तिष्ठति॥"

इत्यादिके द्वारा एक विक्षेप शक्ति और दूसरी आवरण शक्ति यही मायाके दो रूप बताये गये हैं। आवरण शक्ति स्वरूप-ज्ञान नहीं होने देती, और विक्षेप शक्ति आवृत वस्तुमें जगत्की कल्पना कराती है। इस प्रकरण-के साथ गोस्वामीजीकी प्रकृत चौपाईकी तुलना करनेपर यह सिद्ध होता है कि यहाँ श्री गोस्वामीजीने आवरण शक्तिका अविद्या पदसे और जगदुत्पादक विशेष शक्तिका विद्या पदसे उल्लेख किया है। क्योंकि गोस्वामीजीके बताये विद्या और अविद्याके लक्षण इन्हीं दोनों शक्तियोंमें स्पष्ट मिलते हैं। यद्यपि विक्षेप शक्तिका विद्या पदसे व्यवहार अन्यत्र वेदान्त ग्रन्थोंमें देखा नहीं गया, किन्तु प्रकरण और लक्षणकी अनुकूलतासे यहाँ विद्या पदसे उसी शक्तिका ग्रहण समंजस हो सकता है। अविद्यासे विलक्षणता और ईश्वरीय शक्ति होना ही उसके विद्या-व्यवहारका हेतु हो सकता है। विद्या, जिसे ज्ञान कहते हैं, इसी विक्षेप शक्तिके अन्तर्गत है, इसलिए भी इसे विद्या कहना ठीक हो सकता है।

अथवा एक दूसरी भी व्याख्या उक्त चौपाइयोंकी हो सकती है। पहले मायाका लक्षण बताकर आगे उसके दो भेद किये गये – 'विद्या अपर अविद्या दोऊ' अर्थात् मायाका एक भेद है विद्या और दूसरा भेद है 'दोऊ अविद्या' अर्थात् दोनों प्रकारकी अविद्या। इनमें-से विद्याको छोड़कर दोनों प्रकारकी अविद्याका ही स्वरूप पहले बताते हैं—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये दोनों अविद्याके ही स्वरूप हैं जिन्हें अध्यात्मरामायणमें आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति कहा गया है। एक जीवको भवकूपमें गिराती है, और दूसरी जिसके वशमें गुण हैं, प्रभुकी प्रेरणासे संसारको रचती है। यों दो प्रकारकी अविद्याएँ बताकर आगे विद्याका स्वरूप कहते हैं—

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।

तात्पर्य यह कि इन दोनों अविद्याओंमें-से जहाँ एक भी न रहे, और जिसके द्वारा सबमें ब्रह्मरूपका दर्शन हो, उसे ज्ञान अर्थात् विद्या समझो, ज्ञान और विद्या शब्दका एक ही अर्थ सुप्रसिद्ध है। वह अविद्याका सर्वथा विरोधी है। ज्ञानका उदय होनेपर उसी क्षण अविद्याका आवरण दूर हो जाता है, और विक्षेप शक्ति-द्वारा उत्पादित जगत् भी क्रमशः प्रारब्ध क्षय होनेपर लीन हो जाता है। यों विद्या यद्यपि अविद्याकी विरोधिनी है, किन्तु वह भी अन्तःकरणकी वृत्ति ही है। और अन्तःकरण मायासे बना है। सुतरां यह ज्ञानरूप विद्या भी मायाके ही भीतर आ गयी। इसलिए श्री गोस्वामीजीने इसे भी मायाके भेदोंमें लिखा। यह व्याख्या सर्वांशमें वेदान्त ग्रन्थोंके व अध्यात्मरामायणके अनुकूल होती है, और गोस्वामीजीके शब्दोंका स्वारस्य भी इसमें अच्छा होता है। इसपर पाठक सज्जन विचार करें। अस्तु, कोई भी व्याख्या की जाये, लक्षण और प्रकरणकी विशुद्धिसे शांकर मतकी अनुकूलता इसमें सुस्पष्ट है।

आगे वैराग्यका स्वरूप बताया गया है कि जो त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्तमोमूलक) सिद्धिका तृणके समान परित्याग कर देता है, वह परम वैराग्ययुक्त समझा जाना चाहिए। आगेके दोहेमें जीव और ईश्वरका स्वरूप बताया गया है। उसका तात्पर्य है कि जो अज्ञानवश अपनेको माया-का स्वामी नहीं समझता, प्रत्युत् अपनेको मायाके अधीन मानता है, और वैसा ही कहता है, वह जीव है। और जीवको बन्ध-मोक्ष देनेवाला सबसे पर और मायाका प्रेरक सीव – शिव अर्थात् ईश्वर समझना चाहिए। इस दोहेसे बहुतोंको शंका होती है कि गोस्वामीजीने 'जीव और सीव'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(शिव, ईश्वर) को भिन्न-भिन्न बताया, तब अद्वैत कहाँ रहा ? यह तो स्पष्ट द्वैतवाद है। किन्तु यह शंका निर्मूल है। जीवका जीव भाव, और ईश्वरका ईश्वर भाव रहने तक व्यावहारिक भेद शंकर सिद्धान्तमें भी माना जाता है। हम पहले लिख चुके हैं कि जीवभाव और ईश्वरभाव दोनों दूर होकर जब केवल शुद्ध चैतन्यका भाव होता है, तब अद्वैत होता है। वह होता है अविद्या हटनेपर। जबतक अविद्या है, तबतक भेद भी है। यही यहाँ गोस्वामीजीने भी कहा है कि जो मायाके वशमें है, वह जीव, और जो मायाका प्रेरक है वह ईश्वर है। इससे मायाके द्वारा ही तो भेद बताया गया, स्वरूपमे कोई भेद नहीं है। और "ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।" इस वाक्यमें स्पष्ट ही कह दिया कि ज्ञानके द्वारा अविद्याका नाश हो जानेपर भेद नहीं रहता, सब ब्रह्मरूप भासित होता है। अतः यहाँ भेद-भावका गन्ध भी नहीं। यह सब शांकर सिद्धान्तके अनुसार हैं।

इसके आगे कहते हैं कि धर्मसे वैराग्य उत्पन्न होता है, योगसे ज्ञान होता है, और ज्ञानको वेदने मोक्षदाता बताया है। जिसके द्वारा मैं (रामचन्द्र) शीघ्र द्रुत अर्थात् कृपालु हो जाता हूँ, वह भक्तको सुख देनेवाली मेरी भक्ति है। यह भक्ति स्वतन्त्र है, अपनी सिद्धिमें किसी दूसरेको अवलम्ब नहीं बनाती, किन्तु ज्ञान और विज्ञान इसके अधीन हैं। इस कार्य-कारण-भावपर विचार करनेसे भी यही तात्पर्य निकलता है कि यद्यपि गोस्वामीजी भक्तिमार्गके अनन्य शरण हैं – अपने उपयुक्त समझकर उसी मार्गका उन्होंने आश्रयण किया है – तथापि दार्शनिक सिद्धान्त उनका यही है कि भक्तिसे ज्ञान होता है, और ज्ञानसे मोक्ष होता है। यही शांकर वेदान्तका भी सिद्धान्त है। आगे भक्तिकी प्रशंसा और उसके साधनोंका निरूपण है, जिसका प्रकृत विषयमें विशेष उपयोग नहीं। अस्तु। रामायणमें तत्त्वज्ञानका यह सर्वमुख्य प्रकरण है, और यह अक्षरशः शांकर सिद्धान्तका अनुगामी है। इस स्थितिमें रामायणमें किसी दूसरे सिद्धान्तका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिपादन होगा, ऐसी सम्भावना भी नितान्त अप्रयोजक होगी।

यों रामचरितमानसके अनेक स्थलोंकी विस्तृत व्याख्या करके गोस्वामीजीकी दार्शनिक-तत्त्व-प्रतिपादन शैली और उनका शांकर सिद्धान्तानुयायी होना, दोनों ही स्पष्ट प्रदर्शित किये जा चुके हैं। अन्यान्य भी ऐसे प्रकरण रामायणमें बहुत हैं, जिनमें तत्त्व-ज्ञानका थोड़ा-बहुत प्रसंग आया है, और वह सब शांकर सिद्धान्तके अनुकूल ही है। किन्तु अब यह लेख बहुत विस्तृत हो गया, अतः अधिक कहना हम अनुपयुक्त समझते हैं। हाँ, उत्तरकाण्डका उत्तर भाग तत्त्वज्ञानका एक और बहुत बड़ा खज़ाना है। उसमें-से स्थल-विशेषोंकी कुछ चौपाइयाँ यहाँ और उद्धृत कर दी जाती हैं। उनकी विशेष व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। पाठक स्वयं ही विचार-कर देख लें कि ये सब शांकर सिद्धान्तका किस प्रकार अनुसरण कर रही हैं। अस्तु। रामराज्याभिषेकके अनन्तर जब वेद स्तुति करनेको आये हैं, तब उन्होंने अन्तमें कहा है :—

अव्यक्त-मूल-मनादि[1] तरु त्वच चारि[2] निगमागम भने।
षट् स्कन्ध[3] साखा पंचबीस[4] अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमामहे॥
जे ब्रह्म अजमद्वैत-अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥

यहाँ संसार-वृक्ष जिसका स्वरूप है, उस सगुण ब्रह्मको प्रणाम करके आगे बताया गया है कि अद्वैत-ब्रह्म केवल अनुभवगम्य है, वह कहा नहीं

---

१. माया संसार-वृक्षको जड़ है।

२. चार प्रकारके जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज प्राणी या चारों वेद संसार-वृक्षकी त्वचा हैं।

३. ज्ञान, अज्ञान, शीत, उष्ण, सुख, दुःख ये छह अथवा छह शास्त्र स्कन्ध हैं।

४. सांख्य प्रसिद्ध पचीस तत्त्व शाखाएँ हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा सकता, इस प्रकार सगुण ब्रह्मका यश ही वेद बताते हैं। निर्गुण ब्रह्मका विचार कठिन होनेसे सगुण ब्रह्म सबका उपास्य होता है और होना भी चाहिए। यह अन्यत्र भी बहुधा गोस्वामीजी लिखा करते हैं। जैसा कि अरण्य काण्डमें सुतीक्ष्ण मुनि कहते हैं –

जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तरजामी।
जो कोसलपति राजिवनयना। करौ सो राम हृदय मम अयना॥

और वहीं आगे अगस्त्य ऋषि कहते हैं –

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥

निर्गुणरूप केवल विज्ञेय है, भक्तिका आधार सगुण हो सकता है। इत्यादि।

उत्तरकाण्डमें सनकादिकी स्तुतिमें लिखा है –

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मन्दिर सुन्दर अति आगर॥
जय इन्दिरा-रमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभागर॥
ग्यान-निधान अमान[1] मानप्रद। पावन सुजस पुरान वेद बद॥
तग्य कृतग्य अग्यता-भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन॥
सर्व सर्वगत सर्व-उरालय। बससि सदा हम कहँ परिपालय॥

यहाँ ब्रह्मको निर्गुण और अनाम कहते हुए भी गुणसागर और अनेक नामवाला कहा है। उसकी उपपत्ति वेदान्तके अनुसार मायारहित और माया शवलित अवस्थाओंमें ही होती है।

आगे श्री रामचन्द्र अपने भ्राताओंको उपदेश देते हैं –

अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुरनरमुनिनायक॥

---

१. जो किसी प्रमाणसे न जाना जाये, किन्तु सबके जाननेके लिए प्रमाण रूप हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक॥

यहाँ वेदान्ताभिमत सर्व कर्म-योग, गुण और दोषोंकी मायिकता व परमार्थ दृष्टिमें दोनोंका अदर्शन बताया गया है।

आगे गरुड़के प्रति काकके उपदेशमें ब्रह्मका वेदान्ताभिमत विस्तृत निरूपण है। उसमें-से कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं –

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया-कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड॥
सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि।
छुटै न राम-कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥
व्यापक व्याप अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥
सोइ सच्चिदानन्दघन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसन्दोहा॥
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥
जथा अनेकन वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपनु होइ न सोइ॥

आगे भी बहुत-कुछ वेदान्त विषय है। ऐसे स्थलोंकी व्याख्या बहुधा हो चुकी है। इस प्रकरणमें यह विशेषता है कि यहाँ भगवान् रामचन्द्रके प्राकृत-चरित्रोंका समाधान इसी रूपमें किया गया है कि अज्ञानियोंको भगवान् राममें प्राकृत चरित्रोंका आभास होता है। यथार्थमें वे चरित हैं ही नहीं। इससे बढ़कर मायिकताका सिद्धान्त क्या कहा जा सकता है।

आगे भी लिखा है –

ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सचराचर।
जौं सब के रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मायाबस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।
परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
मुधा भेद जदपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें अद्वैतवाद और मायावादके प्रतिपादनके शतशः स्थल हैं। दर्शनोंमें रुचि रखनेवाले पाठकोंसे अनुरोध है कि वे अवधान-पूर्वक श्री गोस्वामीजीके तत्त्व-निरूपणोंको देखें। गोस्वामीजीने न केवल रामचरित लिखा है, बल्कि 'राम-तत्त्व' भी समझाया है। और उपासना, अवतारवाद, रामचरित आदिपर जो शंकाएँ आजकल होती हैं, उनका दार्शनिक प्रौढ़ युक्तियोंसे सुस्पष्ट उत्तर दिया है। इसीलिए उनका 'राम-चरितमानस' एक शास्त्र है और मनोयोगसे पढ़नेकी वस्तु है।

उत्तरकाण्डमें गरुड़ और काकभुशुण्डिके संवादमें श्री गोस्वामीजीने तत्त्व-ज्ञानका बहुत-कुछ अंश स्थान-स्थानपर दिया है। काकभुशुण्डिजी भक्तिमार्गके अनुयायी हैं, उनका सिद्धान्त भक्तिप्रधान है। भक्ति बिना वे ज्ञान-विज्ञानकी कोई क़ीमत नहीं समझते। इस बातपर उनका अपने गुरु लोमश ऋषि तकसे झगड़ा हो चुका था, फलस्वरूप उन्हें काकदेह धारण करना पड़ा था। अस्तु, यह सब होते हुए भी गोस्वामीजी काकभुशुण्डिजीके द्वारा तत्त्वनिरूपणमें अद्वैतवाद व मायावादका ही प्रस्थापन कराते हैं। इसके दो-एक अवतरण हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं। श्रीराम काकभुशुण्डिको वर देते हुए आज्ञा करते हैं कि –

मम माया सम्भव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहि भाये॥

इत्यादि।

यहाँ संसारका मायासे उत्पन्न होना तो स्पष्ट है, किन्तु माया शब्दके अन्यान्य अर्थ कर कई एक वादी ऐसे स्थलोंसे पार पा जाते हैं। वे कह देते हैं – माया नाम ईश्वरकी शक्तिका या प्रकृतिका है, वह सत्य ही है, अतः माया-जन्य होनेपर भी जगत्में मिथ्यात्व माननेका कोई प्रमाण नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिला – इत्यादि। किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजीने माया शब्दका व्यवहार ठीक उसी अर्थमें किया है, जिस अर्थमें कि शांकर सिद्धान्तमें किया जाता है। इसके कई प्रमाण उनके ग्रन्थमें हैं, कुछ ऐसे प्रकरण इस लेखके प्रारम्भमें आ भी चुके हैं। इस प्रकरणमें भी आगे चलकर काकभुशुण्डिजी-की उक्तिमें यह बात स्पष्ट कर दी है कि वे माया किसे समझते हैं। कलि-धर्मका निरूपण कर, कलियुगी जीवोंकी दुर्दशा और अनाचारका चित्रण कर आगे काकभुशुण्डिजी कहते हैं –

बुध युगधर्म जानि मनमाँहीं। तजि अधर्म कहँ धर्म कराहीं।
काल कर्म नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति चरण प्रीति अति जाही॥
नट कृत कपट विकट खगराया। नट सेवकहिं न व्यापै माया।
हरिमायाकृत दोष गुण बिनु हरिभजन न जाँहि।
भजिय राम सब काम तजि, अस विचार मन माँहि॥

इनका अर्थ है कि पण्डित लोग इस युग-धर्मको मनमें समझकर, अधर्म-को छोड़कर धर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि ऋषि, मुनि, आचार्योंने जो कलियुगकी दशाका चित्र खींचा है, उसका यह आशय नहीं कि लोग आलसी बन जायें। धार्मिक सज्जन भी यह विचार लें कि युगके अनुसार अधर्म-प्रवृत्ति तो होनी ही है, फिर हम धर्मानुष्ठान या धर्म-प्रचार-का वृथा प्रयत्न क्यों करें – जैसा कि प्रायः आजकल बहुत लोगोंका विचार देखा-सुना जाता है। किन्तु उनका आशय यह है कि इस प्रकारके घोर कालका पूर्व ज्ञान ही प्राप्त कर धार्मिक लोग धर्माचरणके लिए अपने अन्तःकरणको और भी सुदृढ़ कर लें। वे समझ लें कि ऐसे भयंकर समय-में किंचित् भी असावधानी होनेपर कुप्रवृत्तिकी ओर विचलित हो जाना सहज है, सुतरां, विचलित न होनेके लिए पूरी दृढ़ता और अवधान प्रयोज-नीय है। जैसे कोई दैवज्ञ पूर्वसे बताये कि अमुक दिन बड़ा भारी भूकम्प होगा, या बड़ा प्रबल वायु चलेगा, शतशः गृहोंका नाश हो जायेगा, तो यह जानकर बुद्धिमान् लोग अपने घरोंको स्वतः खोद डालें, या छप्परोंके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बल्लो बन्धन तोड़ डालें, ऐसा कभी नहीं होता। कोई भी यह नहीं सोचता कि दैवज्ञके कथनानुसार घरोंका नाश होना ही है, फिर हम रक्षाका प्रयत्न क्यों करें, घरोंके गिर जाने या छप्परोंके उड़ जानेकी ही सामग्री क्यों न जुटा दें। प्रत्युत सभी बुद्धिमान्, यदि दैवज्ञपर विश्वास रखते हों तो, अपने घरोंकी रक्षाका विशेष प्रयत्न कर लेते हैं जिससे प्रबल भूकम्प होनेपर या अत्यधिक वायु चलनेपर भी वे नष्ट न हो सकें। इसी प्रकार धार्मिक विप्लवकी बात पहलेसे जानकर धर्मरक्षाकी आवश्यकता व प्रयोजनीयता समझनेवाले उसकी रक्षाके लिए विशेष सयत्न हों—यही युग-धर्म निरूपण करनेवालोंका अभिप्राय रहता है। अस्तु – यही यहाँ गोस्वामीजीने स्पष्ट लिखा कि—

बुध युगधर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म कहँ धर्म कराहीं।

अब किसीको यह सन्देह हो कि हम पुरुषार्थ करें तो हमारी शक्ति ही कितनी ? कालके प्रवाहके सामने बेचारा मनुष्य वस्तु क्या है – जो कुछ कर-धर सके ? हम कितना भी जोर लगायें, काल हमें ढकेल ही ले जायेगा। तो इसका उत्तर गोस्वामीजी देते हैं कि, श्री रामचन्द्रजीके चरणका पूर्ण प्रेम जिसे होता है – उसे कालकृतकर्म कुछ बाधा नहीं दे सकते, क्योंकि काल आदि सब भगवान्की माया हैं, अतः भगवान्के सेवकपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। इसमें दृष्टान्त देते हुए वे मायाका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि इन्द्रजाल करनेवाला नट कितना ही विकट कपट करे, कितनी ही अद्भुत इन्द्रजाल विद्या फैलाये, कितनी ही अद्भुत घटनाएँ दिखाये, और इतर दर्शक चाहे उसके धोखेमें कितने ही आ जायें, किन्तु उस नटके साथ जो उसका अन्तरंग सेवक है, उसपर उस इन्द्रजालका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह नटकी सब कारीगरीसे परिचित है, नटकी कृपासे सब कुछ जान चुका है, अत वह धोखेमें नहीं आता। इसी प्रकार ये सब कालकृत-जगत्की विचित्र घटनाएँ परमात्माकी माया हैं, यह उनका इन्द्र-जाल है, तो जो परमात्माका परम अन्तरंग सेवक है, उनकी कृपासे उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
मायाका – इस इन्द्रजालका भेद जान चुका है, उसपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। हाँ, बिना श्रीराम-भजनके रामकी मायाके दोष-गुण अपनेसे पृथक् न हो सकेंगे – अतः सब काम छोड़कर रामका मनमें भजन करना साधुओंका मुख्य कर्तव्य है।

यह नटके इन्द्रजालका दृष्टान्त इस प्रकरणके माया शब्दके अर्थको स्फुट कर देता है। और कहना नहीं होगा कि शांकर-सिद्धान्तके अनुयायी ग्रन्थोंके अनुसार ही यह दृष्टान्त है।

कागभुशुण्डिजीके पूर्वतन शूद्रजन्मके गुरुने उनको शाप देनेपर श्री शंकर-भगवान्‌को जो स्तुति की है – उसके विशेषण भी सब शांकरब्रह्मवादके अनुकूल हैं। देखिए –

नमामीशमीशाननिर्वाणरूपम्। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्।
अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम्। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम्॥
निराकारमोंकारमूलं तुरीयम्। गिरा ज्ञानगोतीतमीशं गिरीशम्।
करालं महाकालकालं कृपालुम्। गुणागारसंसारपारं नतोऽहम्॥

यह संस्कृतप्राय कविता है, किन्तु ईश्वरके ये विशेषण भावुक भक्तोंके लिए दुर्बोध नहीं। विस्तारभयसे इसकी पूरी व्याख्या हम यहाँ नहीं लिखेंगे। इसमें ब्रह्मके निर्गुण, निर्विकल्प, (सावधारण बुद्धिका अविषय) चिदाकाश (ज्ञानस्वरूप), तुरीय, (त्रिविध उपाधिसे अतीत) गिरा ज्ञान गोतीत (वाणी, मन, इन्द्रियोंका अविषय) आदि विशेषण सब शांकर-सिद्धान्तके अनुसार हैं, और भक्तोंमें इनकी ठीक उपपत्ति नहीं हो सकती। और 'करालं महाकालकालं' इत्यादि मायाविशिष्ट ईश्वरावस्था ब्रह्मका निरूपण है, उसे ही समस्त गुणोंका आधार कहा गया है – जैसा कि शांकर सिद्धान्तमें माना जाता है। शुद्ध ब्रह्म और मायाविशिष्ट ब्रह्मकी स्तुति मानकर शांकर-सिद्धान्तमें निर्गुण, सगुण दोनों वादोंकी उपपत्ति हो जाती है, और वस्तुतः दोनोंमें भेद न होनेके कारण एक ही प्रकरणमें दोनोंकी स्तुति असंगत भी नहीं होती। विवक्षामात्रका ही भेद है, वस्तु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
रूपसे तो दोनों एक ही हैं। किन्तु अन्य मतोंमें निर्गुण-वादकी उपपत्ति नहीं होती। अतः यह स्तुतिप्रकरण भी शांकर अद्वैत सिद्धान्तके ही अनुकूल है।

आगे लोमश ऋषि जहाँ काकभुशुण्डिजीको ज्ञानका उपदेश देने लगे हैं, वहाँका सब प्रकरण अद्वैतका अक्षर-अक्षर अनुगामी है –

काकभुशुण्डि गरुड़जीसे कहते हैं कि –

ब्रह्मज्ञानरत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी।
लागे करन ब्रह्म उपदेशा। अज अद्वैत अगुण हृदयेशा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखण्ड अनूपा।
मनगोतीत अमल अविनाशी। निर्विकार निरवधि सुखराशी॥
सो तैं, ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा।

अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें निरत परम ज्ञानवान् मुनि मुझे परम तत्त्वका अधिकारी समझकर ब्रह्मका उपदेश देने लगे कि 'हृदय अर्थात् मन प्राण आदिका ईश–स्वामी–ब्रह्म, अजन्मा, द्वितीय-रहित व गुण-शून्य है। न उसका सजातीय दूसरा कोई है, न विजातीय, न उनके स्वरूपमें अवयवकृत स्वगत भेद ही है, जो कुछ है वही एक है। वह प्राण, श्रद्धा आदि उपनिषत्प्रतिपादित कलाओंसे रहित है, न उसमें किसी प्रकारकी इच्छा है, न उसका कोई नाम रूप है। कोई शब्द भी उसे नहीं बता सकता, वह तो केवल अपने अनुभवसे संवेद्य है, क्योंकि वह खण्डरहित और उपमान-शून्य है। मन और वाणी उसे प्राप्त नहीं करते, उनसे वह अतीत है, मल-रहित है, अविनाशी व निर्विकार है और सर्वोत्कृष्ट निःसीम आनन्दकी वह निधि है। यथार्थमें वही तू है, तुझमें और उसमें कोई भेद नहीं, जैसे कि जलमें और तरंगमें भेद नहीं। ऐसा ही वेद बता रहे हैं।

अब इस प्रकरणपर कोई टीका टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं। जिनका वेदान्त-शास्त्रमें कुछ भी प्रवेश है, वे स्पष्ट समझ सकते हैं कि यह प्रकरण अक्षरशः शांकर-सिद्धान्तका अनुवाद-मात्र है। और गोस्वामीजीने तत्त्व-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
ज्ञानके उपदेश-प्रसंगमें यही उपदेश दिलाया है। यह दूसरी बात है कि भुशुण्डिजी भक्तिमार्गके अधिकारी थे, वे सगुण-भक्तिमें रुचि रखते थे, अतः उनको अपने अधिकारानुसार न होनेसे यह उपदेश रुचिकर न हुआ, और उन्होंने ऋषिसे वादविवाद कर शाप पाया। जैसा कि हम पूर्वके प्रसंगोंमें दिखा चुके हैं, गोस्वामीजीने अन्यत्र भी यही सिद्धान्त माना है कि तात्त्विक तो निर्गुणाद्वैत है, किन्तु भक्तोंका मनोविश्राम सगुण, साकार मूर्तियोंमें होता है। यह मत शांकर सिद्धान्तके प्रतिकूल नहीं। भगवान् श्रीशंकराचार्य भी उपासनाका सम्बन्ध सगुण ब्रह्मसे मानते हैं। जो अपनेको ज्ञानके अयोग्य समझकर उपासनाके अधिकारी समझें – वे खुशीसे सगुण ब्रह्मकी उपासना करें। यही अधिकार अपने लिए भुशुण्डिजीने उचित समझा, और यही गोस्वामीजीने भी अपने लिए चुना। किन्तु तत्त्वनिरूपणमें ये भगवान् शंकराचार्यके समान उपनिषत्प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्तके ही अनुयायी रहे।

आगे लोमश ऋषिको क्रोधित देखकर भुशुण्डिजी मनमें विचार करते हैं कि –

क्रोध कि द्वैत कि बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायावश परिछिन्न जड़, जीव कि ईश समान॥

इस दोहेको बहुत-से लोग अद्वैतके प्रतिकूल बताते हैं, क्योंकि इसमें जीव, ईशकी समानता – एकता – का स्पष्टरूपसे खण्डन है। किन्तु किंचित् भी विचार-दृष्टिसे काम लेनेपर स्पष्ट हो जायेगा कि प्रतिकूलताकी इसमें गन्ध भी नहीं – यह पूर्णरीतिसे अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार है। तात्पर्य इसका यह है कि लोमश ऋषिको, क्रोधित देखकर भुशुण्डिजी मनमें सोचते हैं कि – "क्रोध कि द्वैत कि बुद्धि बिनु" अर्थात् बिना द्वैतकी बुद्धिके क्रोध कैसे? यदि लोमश ऋषि सर्वथा अद्वैतनिष्ठ हो चुके, तो फिर इन्हें क्रोध कैसे हो रहा है? क्रोध तो सदा अपनेसे भिन्न दूसरेपर होता है, अद्वैतनिष्ठ अपनेसे भिन्न किसीको देखता ही नहीं, और अपने-आपपर किसीको क्रोध होता नहीं। सुतरां, सिद्ध हुआ कि ये ऋषि अद्वैतका उपदेश करते हैं,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
किन्तु स्वयं अद्वैतनिष्ठ नहीं, इनके मनमें द्वैत (भेद) ज्ञान मौजूद है – तभी क्रोध करते हैं। आगे कहते हैं कि "द्वैत कि बिनु अज्ञान" बिना अज्ञान-के द्वैत है ही नहीं। यदि ऋषिका अज्ञान सर्वथा निवृत्त हो जाता है, तो इनके द्वैत बुद्धि कदापि न रहती। इससे इनमें अज्ञानका भी अनुमान होता है। यों क्रोधसे द्वैत-बुद्धिका और द्वैत-बुद्धिसे अज्ञानका लोमशमें अनुमान किया।

जब अज्ञान है तो ये मायाके वश है, मायाके वश है तो परिच्छिन्न (एकदेशी) है, और अंशतः जड़ भी – फिर ऐसे जीव, ईश्वरके समान कैसे हुए ? जब उपदेश देनेवालोंकी यह दशा है – तो हमारा इस उपदेशसे उद्धार कैसे होगा ? ये ही भुशुण्डिजीके विचार उस समय उदित हुए। वस्तुतः बात और थी, लोमश ऋषि अज्ञानी नहीं थे, भुशुण्डिजीकी परीक्षाके लिए ईश्वरने उनकी बुद्धिको उस समय आवृत कर दिया था। यह आगे भुशुण्डिजीने स्पष्ट ही कह दिया है कि—

सुन खगेश नहिं कछु ऋषि दूषण।
उर प्रेरक रघुवंश – विभूषण[1] ॥
कृपासिन्धु मुनि मति करि भोरी।
लीन्हीं प्रेम-परीक्षा मोरी ॥

अतएव शाप देनेके अनन्तर ही ऋषिको इनपर दया हो आयी और उन्होंने इन्हें अधिकारानुसार भक्तिका और रामचरितका उपदेश दिया। और यों तो प्रारब्ध कर्मवश शरीरबन्धन जबतक है, तबतक अंशतः अज्ञान और द्वैत-बुद्धिकी अनुवृत्ति रहती है। भुँजे हुए धानकी तरह वह आगे अज्ञानके अंकुर नहीं उगा सकता, किन्तु निःशेष निवृत्ति शरीर त्याग होनेपर ही होती है – यह सिद्धान्त शांकर ग्रन्थोंमें सुस्पष्ट है। अस्तु

तात्पर्य यह कि यह दोहा अद्वैतवादके प्रतिकूल नहीं। क्योंकि मायाके

---

१. मनकी प्रेरणा करनेवाले श्रीरामचन्द्र।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
वश है, अतएव परिच्छिन्न और जड़ जीवकी ईश्वरके साथ समानता नहीं यह इसमें बताया गया है। और अद्वैत सिद्धान्त भी ऐसी दशामें जीवकी ईश्वरसे समानता और एकता नहीं मानता। मायाबन्धनसे निवृत्त होनेपर ही अद्वैत बुद्धि होती है, तभी एकताका भान है। बस मायाके कारण ही भेद यहाँ दृढ़ किया गया है, स्व-स्वरूपसे भेदकी यहाँ कोई चर्चा ही नहीं। प्रत्युत स्व-स्वरूपसे भेद माननेपर इस दोहेको लगाया जायेगा तो 'जड़' विशेषण सर्वथा अशुद्ध हो जायेगा। द्वैत विशिष्टाद्वैत आदि कोई भी वादी जीवको जड़ नहीं मानते। और यहाँ स्पष्ट जड़ लिखा है। इसकी उपपत्तिके लिए यही कहना होगा कि जीवमें स्वतः जाड्य (जडता) नहीं, मायाके सम्बन्धसे वह जड़ है, तो बस जैसे जडत्व मायाके सम्बन्धसे है; वैसे भेद या असमानता भी मायाके सम्बन्धसे ही दिखायी गयी है, स्व-स्वरूपसे न जडत्व है न भेद है, स्वरूपसे तो वह ब्रह्मरूप ही है। इस दोहेको अद्वैतके प्रतिकूल द्वैत प्रतिपादक बतानेवाले सज्जनोंका ध्यान हम दोहेके द्वितीय चरणकी ओर विशेष रीतिसे आकृष्ट करते हैं, द्वैत कि बिनु अज्ञान' अर्थात् बिना अज्ञानके द्वैत कहाँ? जब द्वैतको स्पष्ट अज्ञान कहा गया, तब इससे अधिक अद्वैतकी अनुकूलता भला और क्या हो सकती है।

इससे आगे ही एक चौपाईमें भुशुण्डिजीके विचारमें श्री गोस्वामीजी कहते हैं—

वंश कि रह द्विज अनहित कीन्हें। कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें॥

अर्थात् ब्राह्मणका अहित करनेपर क्या वंश रह सकता है, कदापि नहीं। और स्वरूपको पहचान लेनेपर क्या कर्म हो सकते हैं, अर्थात् कदापि नहीं। अब पाठक देखेंगे कि आत्मज्ञान हो जानेपर सर्व-कर्म संन्यासका जो श्री शंकराचार्यका सिद्धान्त है, वह भी यहाँ श्री गोस्वामीजीने दृढ़तासे माना है। आत्मज्ञान हो जानेपर, द्वैत-बुद्धि निवृत्त हो जानेपर कर्म हो नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रियोंमें अहं, मनाभिमानके बिना इन्द्रियोंकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रेरणा ही न होगी और वे कर्ममें प्रवृत्त ही न होंगी – यह श्रीशंकराचार्यने माना है। 'नह्यनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याम्रियते' इत्यादि उनके भाष्यमें लिखा है। तब आत्मज्ञानीका प्रारब्ध कर्मकी समाप्ति तक जो कुछ भी आहार, शयनादि आचार देखा जाता है, वह केवल पूर्वाभ्यासवश अनिच्छा-कृत देह व्यापार-मात्र है, अभिनिवेशसे वह कोई कर्म कदापि नहीं करता। यह शंकराचार्यका मुख्य सिद्धान्त है, और उसका भी यहाँ चौपाईमें उल्लेख हुआ है।

अब हम अन्तका एक विस्तृत प्रकरण उद्धृत कर इस लेखको पूर्ण कर देते हैं। उत्तरकाण्डके अन्तमें श्री गोस्वामीजीने ज्ञान और भक्तिका बड़ा अद्भुत, मार्मिक और मनोज्ञ विवेचन किया है। यह सर्वसम्मत है कि गोस्वामी श्री तुलसीदासजी भक्तिमार्गके अनुगामी थे। अपने अधिकार और रुचिके अनुसार इस मार्गको ही उन्होंने अपने लिए श्रेयःप्रद माना, यह हम अनेक स्थानोंपर स्पष्ट करते आये हैं। किन्तु यह सब होनेपर भी ज्ञान-मार्गको वे निरा निकम्मा या आजकलके साम्प्रदायिकोंकी तरह 'असुरव्यामोहनार्थ' मानते हों, सो बात नहीं है। वे ज्ञान और भक्ति दोनोंको कल्याणका मुख्य साधन मानते हैं, केवल इतना ही भेद करते हैं कि ज्ञानमार्गमें क्लेश अधिक है और भक्तिमार्ग सुलभ है। अतः जिस मार्गका जो अधिकारी हो, वह अपने अभिमत मार्गको ही सुलभ मानता है, इसमें कोई विशेषता नहीं। अद्वैत सिद्धान्तके बड़े-बड़े महारथी श्री मधुसूदनसरस्वती आदिने भी ऐसा ही माना है। अतः भक्तिमार्गके अनुगामी होनेके कारण गोस्वामीजीको कोई भी अद्वैत सिद्धान्तके प्रतिकूल नहीं सिद्ध कर सकता। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ज्ञान-मार्ग गोस्वामी तुलसीदासजी उसे ही कहते हैं जो श्री शंकराचार्यका अभिमत 'निर्विशेष अद्वैत' कहकर प्रसिद्ध है। इन सब बातोंका स्पष्ट शब्दोंमें निरूपण निम्नलिखित प्रकरणमें मौजूद है। देखनेको दृष्टि-मात्र चाहिए।

गरुड़जी श्री काकभुशुण्डिजीसे पूछते हैं –

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहौ बुझाइ कृपानिधि मोही॥
कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥
सोइ मुनि तुमसन कहेउ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥
ज्ञानहिं भगतिहिं अन्तर केता। सकल कहौ प्रभु कृपानिकेता॥

चौपाइयोंका तात्पर्य स्पष्ट है कि 'वेद, पुराण, ऋषिसम्मत दुर्लभ ज्ञानका, भुशुण्डिजी ! आपने आदर नहीं किया, और भक्तिको उससे अधिक मान दिया, तो ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर है, यह मुझे बता दीजिए।'

इसपर भुशुण्डिजी उत्तर देते हैं –

भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछु भेदा। उभय हरहिं भवसम्भव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर। सावधान होइ सुनहु बिहंगवर॥

अर्थात् 'वस्तुतः ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही संसारके क्लेशका नाश करनेवाले हैं। तथापि मुनियोंने कुछ मार्ग-भेद कहा है, गरुड़जी, उसे आप सावधान होकर सुन लीजिए।'

इसके आगे पहले केवल आलंकारिक भाषामें ज्ञान और भक्तिका बड़ी चतुरतासे भेद बताया गया है। कहा है कि ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान ये सब पुरुष हैं (हिन्दी भाषामें ये सब शब्द पुलिंग ही माने जाते हैं, अतः इनके वाच्य अर्थको भी पुरुष समझ लिया गया), और माया स्त्री है। पुरुष स्वभावतः स्त्रीको देखकर विमुग्ध हो जाता है, कभी कोई विरला ही उस पापसे निकल सकता है। अतः ज्ञान-विज्ञान आदिका मायाके फन्देसे बच निकलना कठिन बात है। किन्तु भक्ति स्वयं भी स्त्री है (भक्ति शब्दके स्त्रीलिंग होनेके कारण भक्तिको स्त्री मान लिया गया)। स्त्री, स्त्रीके रूपपर कभी मुग्ध नहीं होती, अतः भक्ति मायाके बन्धनमें कदापि न फँसेगी, और वह साधकका अवश्य मायासे उद्धार कर देगी।

फिर भी भक्ति मायाको क्यों हटायेगी, वही इसे क्यों न हटा देगी, इसका उत्तर उसी प्रकारका दिया जाता है कि भक्ति श्रीरामकी प्यारी है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः एक प्रकारसे गृहस्वामिनी हुई। और माया नर्तकी (नटी) की तरह है। बस, गृहस्वामिनीको देखते ही नटी अपने-आप संकुचित हो जाती है। वह स्वामिनीके आगे अपनी प्रभुता नहीं फैला सकती। इसलिए भक्त लोगोंपर मायाका कोई प्रभाव नहीं चल सकता।

यों चातुर्यका उत्तर देकर आगे यथार्थ उत्तर देनेको बन्धन और मोक्ष-का स्वरूप, एवं मोक्ष-साधनका विवेचन आरम्भ किया है –

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जाइ बखानी॥
ईश्वर-अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयेउ गुसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब तें जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥
श्रुतिपुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीवहृदय तम मोह बिसेखी। ग्रन्थि न छुटि किमि परै न देखी॥

अर्थ स्पष्ट है कि यह एक ऐसी न कहने योग्य कहानी है जो केवल मनमें समझ लेनेकी है, वर्णन नहीं हो सकता (इससे अनिर्वचनीयवाद स्पष्ट किया)। यथार्थमें तो जीव ईश्वरका अंश है, ईश्वरसे भिन्न नहीं। अतएव यह स्वयं भी ईश्वरकी तरह ही अविनाशी, चेतन, निर्मल और सुखराशी अर्थात् आनन्दघनस्वरूप है। परन्तु यह मायाके वशमें पड़कर तोते या बानरकी तरह बँध गया। मायाके प्रभावसे जड़ और चेतन आपसमें इस प्रकार हिल-मिल गये कि मानो उनमें एक-दूसरेसे बँधकर गाँठ-सी पड़ गयी। यद्यपि यह ग्रन्थि (गाँठ) मिथ्या—झूठी है, क्योंकि न गाँठ देनेवालेकी कोई स्वतन्त्र सत्ता है न गाँठ ही सूत्रसे भिन्न कोई वस्तु हो सकती है, किन्तु मिथ्या होनेपर भी उसका छूटना कठिन है। (इसका उपपादन पूर्व कर चुके हैं कि स्वप्नमें सिर कटनेसे भी दुःख होता है और दिग्भ्रम जल्दी नहीं मिटता) इसी ग्रन्थिके कारण ही जीव संसारी बन गया। इसीसे आनन्दमयस्वरूप होनेपर भी वह दुखी होगा। न गाँठ खुलती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, और न वह सुखी होता है। वेद, पुराणमें इस ग्रन्थिके खोलनेके बहुत-से उपाय कहे गये हैं, किन्तु आश्चर्य है कि गाँठ खुलती तो नहीं, उलटे अधिक उलझती जाती है। कारण इसका यह है कि जीवके हृदयमें मोहरूप अन्धकार विशेष है, और यह प्रसिद्ध बात है कि अँधेरेमें ग्रन्थि सूझ ही नहीं पड़ती, फिर उसके खुलनेकी कथा ही क्या ?

जिन्होंने कभी शंकरमतानुयायी वेदान्त ग्रन्थोंका कोई अंश भी सुना है, वे स्पष्ट समझ जायेंगे कि गोस्वामीजीका यह बन्धनिरूपण अक्षरशः उन ग्रन्थोंके अनुकूल या उनका अनुवाद-मात्र है। जड़ चेतन ग्रन्थिकी यह मीमांसा और स्पष्ट शब्दोंमें उस ग्रन्थिको मिथ्या कहना अन्य मतमें उपपन्न हो ही नहीं सकता।

अच्छा, तो क्या यह ग्रन्थि खुल ही नहीं सकती, और जीव सुखी हो ही नहीं सकता ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि जब प्रकाश हो, तब ग्रन्थि खुले, और प्रकाशकी सामग्री यों जुटे, तब प्रकाश हो। कैसे, सो सुनिए—

अस संयोग ईस जब करई। तबहु कदाचित सो निरुवरई॥
सात्विक श्रद्धा धेनु लवाई। जौं हरि-कृपा हृदय बसि आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभधर्म अचारा॥
तेइ तृण हरित चरै जब गाई। भाव-बद्ध सिसु धेनु पेन्हाई॥
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परमधरममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृतिसम जावन देइ जमावै॥
मुदिता मथै बिचार मथानी। दमअधार रज सत्य सुबानी॥
जब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुपरम पुनीता॥
जोग अगिन करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावइ ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यान निरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटि बनाइ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बार्ता करै सुगाढ़ि॥
सो०—इहि बिधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीपसिखा सोइ परम प्रचण्डा।
आतम-अनुभव-सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद-भ्रम नासा॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटै अपारा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उरगृह बैठि ग्रन्थि निरुआरा॥
छोरन ग्रन्थि पाव जौं कोई। तौ यह जीव कृतारथ होई॥

कहते हैं कि जब ईश्वरकी कृपासे ऐसा संयोग आ पड़े, तब कदाचित् वह ग्रन्थि निपटे (खुले)। कैसे ? सो बताते हैं कि सत्त्वगुणमयी श्रद्धारूप गो भगवान्‌की कृपासे हृदयमें आकर बसे। जप, तप, इन्द्रियनिग्रह, नियम, वेदोक्त धर्म आचार ये सब हरी घास उस गौको चरनेको मिले, और शुद्ध भाव रूप बछड़ा प्राप्त कर वह गौ दूध देनेको प्रस्तुत हो। निवृत्ति (विषयोंसे हटाना) रूप पादबन्धनी (न्याना) लगाकर, विश्वासरूप पात्रमें निर्मल मनरूपी अहीर (गोपाल) उस गौसे परमधर्म (मोक्षधर्म) रूप दुग्ध निकाले। निष्काम रूप अग्निसे वह दूध औटाया जाये। सन्तोष-की वायुसे क्षमा-द्वारा ठण्डा करके धैर्यका जामन देकर उसे जमाया जाये। फिर मुदिता[1] नामकी चित्तवृत्ति, दम रूप आधारपर रखकर, विचारकी मथानीमें उसे मथकर निर्मल वैराग्यरूप मक्खन निकाल ले। तब योगकी अग्नि जलाकर, शुभ-अशुभ कर्मोंको उसका ईंधन बनाते हुए, ममतारूप मैलको जलाकर ज्ञानरूप घृतको बुद्धि उसमें-से पृथक् छाँट ले। फिर उस शुद्ध घृतको चित्तरूप दीपकमें भरकर समता-रूप दीवटपर रखा जाये।

---

१. मुदिता नामकी चित्तवृत्ति योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है। किसीको पुण्य करते देखकर स्वयं खूब प्रसन्न होना।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – तीनों अवस्था रूप कपाससे सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंको (बिनौलेकी तरह) अलग छाँटकर, तुरीया[1] रूप रूई ठीक की जाये, उसीकी दृढ़ बत्ती हो। ऐसा दीपक जब जलेगा तब मद (अभिमान, दर्प) आदि पतंग उसके पास जाते ही जल जायेंगे। 'सोऽहमस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह एकरूपा वृत्ति ही उस दीपककी परमप्रबल शिखा (लौ) होगी। आत्मा (अपने स्वरूपका अनुभव होना) उस दीपका प्रकाश है, और संसारके मूलभूत भेद भ्रमका (मैं और हूँ, तू और है, ईश्वर और है, यह जो भेदकी भ्रान्ति फैल रही है, उसका) इस प्रकाशसे नाश हो जाता है। अविद्याके प्रबल परिवार, मोह, आदि अन्धकार इस प्रकाशके आते ही उड़ जाते हैं। तब इस उजालेमें अन्तःकरणरूप घरमें बैठकर बुद्धि उस गाँठको खोल सकती है। यदि यों यह ग्रन्थि खोली जा सके, तो जीव कृतार्थ हो जाये।

इस गम्भीर विज्ञानको सुनकर भी जिनको यह सन्देह बना रहे कि गोस्वामी तुलसीदासजी शांकर अद्वैतको ठीक जानते और मानते थे या नहीं, तो उनकी बुद्धिका इलाज कठिन है। अस्तु, पाठक समझ गये होंगे कि श्रीशंकराचार्याभिमत ज्ञानको ही गोस्वामीजी ज्ञान कहते हैं, और उससे जीवके कृतार्थ होनेमें इनको किसी प्रकारका सन्देह नहीं। किन्तु इस मार्गमें ये इतना ही दोष समझते हैं, कि इसके पथिकको विघ्न-बाधाएँ बहुत झेलनी पड़ती हैं और बहुधा वह मार्ग भूलकर भटक जाता है।

यही सब आगेकी चौपाइयोंमें बताया गया है कि बुद्धिको ग्रन्थि खोलते देखकर माया बहुत विघ्न करती है। पहले वह ऋद्धि[2]-सिद्धिको

---

१. चौथी, गुणातीत-अवस्था।

२. इन ऋद्धि-सिद्धियोंका विभूति रूपसे योग-शास्त्रमें विस्तृत वर्णन है। योग-मार्गके अनुगामीको ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। और उनके प्रलोभनमें पड़कर आगेके ज्ञान-मार्गको छोड़ दे तो वह लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है। अतः ये सब गोस्वामीजीके दिखाये दोष योगमार्गपर घटते दिखाई देते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भेजती हैं, वे आकर बुद्धिको लोभ दिखाती हैं। कई प्रकारके छल-बलसे यदि वे बुद्धिके पास पहुँच गयीं तो अपने वस्त्रकी वायुसे झट दीपक बुझा देंगी, और गाँठ बिना खुली ही रह जायेगी। यदि बुद्धि खूब चतुर समझदार हो, और उन्हें अपना शत्रु समझ उनकी ओर देखे ही नहीं, न अपने पास उन्हें आने दे, तो उनसे बच सके। यों यदि उनसे दीपक बच गया, तो फिर इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता उपद्रव मचाते हैं। इन्द्रिय-द्वार रूप झरोखोंमें अपना-अपना स्थान बनाकर ये देवता बैठे हैं। जब ये विषय-रूप वायुको आता देखते हैं, तब झटसे उलटे कपाट खोल देते हैं। यदि वह वायु अन्तःकरण रूप घरमें चला गया, तो विज्ञान-दीपकको ज़रूर बुझा देगा। तबतक गाँठ न खुले और दीपक बुझ जाये, तो बुद्धि विकल हो जाती है। फिर जीव संसार-चक्रमें पड़ जाता है। इत्यादि कारणोंसे यह मार्ग कहने, सुनने, साधन करनेमें सब तरह कठिन है। विघ्न बहुत हैं, कहीं-कहीं फलित होता है।

ग्यानपन्थ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जौं निरबिघन पन्थ निरबहई। सो कैवल्य परम-पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुरान निगम आगम बद॥

अर्थात् ज्ञानका मार्ग तलवारकी धार है, इसपर चलनेवालेको गिरते देर नहीं लगती। यदि निर्विघ्न इस मार्गसे कोई चला जाये, तो वह कैवल्य रूप परम पदको पा लेता है। किन्तु वह कैवल्य पद दुर्लभ है, यह सन्त लोग, पुराण, वेद, शास्त्र सभी कहते हैं।

इस कारण साधकको सुगम उपाय भक्ति-मार्गका आश्रय लेना चाहिए, यह श्री गोस्वामीजीका अभिमत है। भक्ति-द्वारा श्रीरामका आराधन करनेसे उनके प्रसन्न होनेपर सब विघ्न-बाधाएँ स्वतः दूर हो जायेंगी, वे पास भी न फटकेंगी और श्रीरामकी कृपासे मुक्ति हाथ जोड़कर सामने खड़ी रहेगी।

भगति करत बिनु जतनु प्रयासा। संसृतिमूल अविद्यानासा॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् भक्ति करनेपर बिना यत्न और परिश्रमके संसारकी मूलभूत अविद्या नष्ट हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तमें अविद्याका नाश होकर पूर्वोक्त 'सोऽहमस्मि' वृत्ति प्राप्त होना भक्तिपक्षमें भी श्री गोस्वामीजीको अभीष्ट है। इससे ज्ञान रूप चरम फलमें तो कोई विवाद ही नहीं। बिना ईश्वरोपासनाके केवल श्रद्धा, संयम आदि योग-मार्गमें मुक्ति मानी जाती है। उस मार्गमें अधिक क्लेशकी विप्रतिपत्ति गोस्वामीजीने दिखायी है। अतः यह विप्रतिपत्ति अद्वैत सिद्धान्तके साथ नहीं, केवल एकेदशी योगमार्गके साथ है, यह स्पष्ट है। इस विप्रतिपत्तिका तात्पर्य इतना ही है कि बिना ईश्वरोपासनाके केवल अभ्याससे ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है। अतः ईश्वरोपासना-द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अब सिद्ध हो गया कि मुख्य ज्ञानके साथ इस प्रकरणका विसंवाद नहीं। बिना उपासनाके योग मार्गको 'ज्ञानमार्ग' कहकर यहाँ कठिन बनाया गया है, सो ठीक ही है।

आगे भी भक्ति-मार्गपर ज़ोर देते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान्के साथ सेव्य-सेवक भावके बिना संसारसे निस्तार नहीं हो सकता। श्रीरामकी कृपासे जड़ चेतन बन जाता है और चेतन जड़ बन सकता है। उन रामको भजनेवाले ही धन्य हैं। आगे कहा गया है कि ज्ञान-दीपककी बात कह चुके, अब भक्ति-मणिका प्रभाव सुनो।

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसै गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकासरूप दिन-राती। नहिं कुछु चहिअ दिया घृतबाती॥
मोह दरिद्र निकट नहीं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
अचल अविद्या-तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं॥

अर्थात् ज्ञानरूप दीपकसे प्रकाश करनेमें बहुत सामग्री चाहिए, किन्तु रामभक्ति रूप चिन्तामणि जिसके अन्तःकरणमें रहे, वहाँ बिना दीवट, घृत और बातीके ही (मणिके प्रभावसे) दिन-रात प्रकाश रहेगा। मोह-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप दरिद्र पास न फटकेगा, (मणि रहनेपर दरिद्रताँ कहाँ ?), लोभ-रूप पवन उसे बुझा नहीं सकता। अविद्याका प्रबल अन्धकार समूल नष्ट हो जाता है, मद आदि शलभ हार जाते हैं, कामादि खल पास नहीं आते। रामभक्ति मणि रहनेपर दुःखका लव-लेश भी नहीं रहता इत्यादि। इससे भी सिद्ध है कि भक्ति-द्वारा अविद्याका नाश होनेपर और जड़-चेतन ग्रन्थि खुल जानेपर 'सोऽहमस्मि' वृत्ति जो ज्ञानका फल है, वह भक्तिसे भी अवश्यम्भावी है, अर्थात् उस क्लेश-मार्गको छोड़कर भक्ति-मार्गपर चलनेसे सुलभतासे ज्ञान प्राप्त हो जाता है, यह श्री गोस्वामीजीका अभिमत है। तात्पर्य यह कि ज्ञानकी अनुपादेयता नहीं बतायी जाती, ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग भेद-मात्र बताया जाता है। अतएव आगे भी भक्ति-प्राप्तिके उपाय बताते हुए ज्ञानकी भी आवश्यकता मानते हैं –

पावन पर्बत बेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुखखानी॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक रामकर दासा॥

अर्थात् वेद पुराण बड़े-बड़े पर्वत हैं। उनमें विविध राम-कथा-रूप मणिकी खानें हैं। सज्जन उसका मर्म जाननेवाले हैं, सुमति कुदारी (खनिज, भूमि खोदनेके लिए) है, ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं। जो कोई प्राणी भावसे देखेगा, उसे भक्तिरूप मणि अवश्य मिलेगी। और मेरा विश्वास है कि वह रामका दास रामसे भी अधिक हो जायेगा।

यहाँ भक्ति-प्राप्तिमें ज्ञान वैराग्यकी आवश्यकता सुस्पष्ट कही गयी है। ज्ञान, वैराग्य गोस्वामीजी जैसे मानते हैं, यह पूर्व प्रकरणमें स्फुट हो चुका है। अतः अन्तिम फलमें शांकर सिद्धान्तसे गोस्वामीजीके अभिमतका कोई भेद नहीं रहता। बिना उपासनाके शुष्क-मार्गसे ज्ञान प्राप्तिके लिए यत्न नहीं करना, किन्तु उपासना-द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करना, और आगे भी उपासना-जनित ईश्वर-प्रेमकी अनुवृत्ति रखना, यह मार्ग-भेद-मात्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
गोस्वामीजीको अभीष्ट है। अतः अद्वैत सिद्धान्तके अनुयायी भी बहुधा इससे सहमत हैं। अतः इस प्रकरणमें यदि विप्रतिपत्ति मानी जाये तो योग मार्गके एकदेशीय मतके साथ ही क्लेशाधिक्यकी विप्रतिपत्ति है, अद्वैत-सिद्धान्तका तो यह प्रकरण सुस्पष्ट अनुयायी है। अन्तिम फलके सम्बन्धमें भी श्री गोस्वामीजी बड़ी चतुरतासे ज्ञानके साथ मिल गये हैं। ज्ञान मार्ग-में ब्रह्मरूप हो जाना (मोक्ष) अन्तिम फल माना जाता है। किन्तु इस ज्ञानसे भी भक्ति उत्तम है, इस बातको समझानेके लिए गोस्वामीजी भक्तिका फल कहते हैं—

'राम तें अधिक राम कर दासा'

अर्थात् रामका दास (भक्त) रामसे भी ऊपर है। ज्ञानसे तो पुरुष रामरूप ही बनेगा, किन्तु भक्ति-द्वारा रामसे भी अधिक बन जायेगा, यह साधारण पुरुषोंको समझा दिया गया। फलतः विचार करने पर रामसे अधिक तो कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि रामका महत्त्व परिच्छिन्न नहीं, वहाँ निरवधिकोत्कर्ष है। फिर अपरिच्छिन्न महत्त्वकी अपेक्षा अधिकता हो ही नहीं सकती। तब रामसे अधिक कहनेका अभिप्राय यही हो सकता है कि रामभक्त भी रामरूप ही हो जाता है। सो फलमें भी विचार करनेपर ज्ञान और भक्तिमें वे भेद नहीं रखते। तात्पर्य यही है कि भक्ति (उपासना) द्वारा ज्ञान प्राप्त कर रामरूपता (ब्रह्मरूपता) प्राप्त कर लेना ही अन्तिम पुरुषार्थ है।

यों श्री गोस्वामीजीके 'रामचरितमानस'में दार्शनिक गूढ़ विचारोंके बहुत प्रसंग हैं, और उनमें दर्शनोंके गूढ़ सिद्धान्तोंको बड़ी रोचकता और सरलतासे सुस्पष्ट किया गया है। हमने कुछ स्थलोंकी संक्षिप्त आलोचना-की है। ध्यानसे पढ़नेपर पाठकोंको और भी बहुत-से ऐसे स्थल प्राप्त होंगे। सबपर सूक्ष्म विचार करनेपर हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि श्री शंकराचार्यके अभिमत अद्वैत सिद्धान्तके विरुद्ध दार्शनिक विचार गोस्वामी श्री तुलसीदास जीने कहीं प्रकट नहीं किये। ऐसे कुछ स्थल हैं, जो दूसरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मतोंमें भी लग सकते हैं, अतः बहुत-सी बातें सब सिद्धान्तोंमें समान हैं ही। किन्तु शांकर अद्वैतके अनुसार जिसकी संगति न हो, ऐसा कोई स्थल रामायणमें हमें नहीं मिला। साथ ही ऐसे बहुत-से स्थल हैं (जो कि इस लेखमें स्पष्ट प्रदर्शित हो चुके हैं) जिनकी संगति शांकर सिद्धान्तकी शरण गये बिना दूसरे वादोंमें हो ही नहीं सकती। अतएव गोस्वामीजीके अद्वैत-सिद्धान्तानुयायी होनेमें कोई विवाद नहीं रह जाता।

इसपर कई विद्वानोंका कथन है कि 'गोस्वामीजीने अपने 'रामचरित मानस' में श्री शंकराचार्याभिमत अद्वैतवादके अनुसार विचार तो प्रकट किये हैं, किन्तु वह उनका अपना मत नहीं है। जैसे दूसरे मतका अनुवाद ग्रन्थकार बहुधा किया करते हैं, ऐसे ही अनुवादरूपसे रामायणमें अद्वैत-सिद्धान्तोंका उल्लेख है।' कई विशिष्ट प्रज्ञ सज्जनोंका यह भी कथन है कि 'अपने ग्रन्थको सर्वप्रिय वा 'अप टू डेट' बनानेके लिए श्री गोस्वामीजीने अद्वैतवादकी बातोंको अपने ग्रन्थमें ले लिया है।' दोनों ही प्रकारके सज्जनों-की युक्ति यह है कि 'गोस्वामीजी परम रामभक्त थे। उनके पद-पदसे रामभक्तिका प्रवाह बहता है। इसमें सन्देह करना इतना ही असम्भव है, जितना कि प्रखर-किरण मध्याह्नके सूर्यमें सन्देह करना। तब यदि गोस्वामीजी अद्वैतवादी होते तो वे भक्त न हो सकते, राम नाम या रामभक्तिको ही अपना आधार न मानते। भेदवादमें ही भक्ति हो सकती है। यदि सब एक ही हों तो कौन किसकी भक्ति करे? स्वयं ही ईश्वर हैं, तो अपनेको दास किसका मानें? सुतरां अद्वैतवादमें भक्ति नहीं हो सकती। और गोस्वामी तुलसीदासजी परमभक्त हैं, इसलिए वे अद्वैतवादके अनुयायी नहीं कहे जा सकते। तब उनके ग्रन्थमें अद्वैतवादके जो विचार आये हैं, वे दूसरोंसे उधार लिये हुए ही हैं।'

इसपर हमको अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम केवल यही सिद्ध करनेको प्रवृत्त हुए थे कि गोस्वामी श्री तुलसीदासजीने अपने 'रामचरित मानस' में जहाँ-जहाँ दार्शनिक विचार लिखे हैं, वे शांकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अद्वैतके अनुसार हो है। अतः इस बातको हमारे मित्रोंने भी मान लिया। अब वे विचार उनके अपने हैं या दूसरोंसे उधार लिये हैं; इसपर मतभेद है। यह मतभेद अपने विश्वासके अनुसार रह सकता है। जिन सज्जनोंने अपने अन्तःकरणमें दृढ़ निश्चय कर रखा है कि गोस्वामी तुलसीदासजी अवश्य ही साम्प्रदायिक वैष्णव थे, वे अपना विश्वास कभी न बदलेंगे। तब यही समाधान करेंगे, और उपाय हो क्या है। किन्तु किसी आपदमें न पड़कर केवल प्रमाणके आधारपर जो किसी बातको माननेके लिए तैयार होते हैं, वे गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें अद्वैतके अनुसार विचार देखकर उन्हें अद्वैतवादी ही कहेंगे। दूसरी बात बिना प्रमाणके उनकी बुद्धिमें उपस्थित हो ही नहीं सकती।

फिर दूसरेके अनुवादरूपसे किसी कोनेमें गोस्वामीजीने अद्वैतवादके कुछ टूटे-फूटे विचार लिख दिये हों, ऐसा भी नहीं है। इसी लेखमें हम हर एक स्थानपर दिखाते आये हैं कि खुले बजार, डंकेकी चोट गोस्वामीजी हर एक जगह अद्वैतवादके मार्मिक विचार लिखते हैं, और खूब जी खोल-कर लिखते हैं। उन्हींके अनुसार सब बातोंको उपपत्ति वे स्वयं लगाते हैं। विचार-शैलीकी परीक्षाका जिन्हें कुछ भी अभ्यास है, वे कभी मान नहीं सकते कि ये विचार 'उधार' लिये हुए हैं। उन्हें स्पष्ट कहना पड़ेगा कि ये विचार गोस्वामीजीकी अपनी पूँजी हैं, ये उनके आन्तरिक उद्‌गार हैं। इनके आलोकमें उनका हार्दिक भाव विस्पष्ट प्रकाशित हो रहा है, उसे लाख प्रयत्न करके भी कोई छिपा नहीं सकता।

फिर पूर्वपक्ष रूपसे गोस्वामीजी अद्वैत विचारोंको स्थान देते, तो कहीं उनका खण्डन भी तो करते। यदि ग्रन्थकार पूर्वपक्ष रूपसे दूसरोंसे विचार लिखते हैं, तो स्वयं उनका खण्डन भी करते हैं। जाने दीजिए। यदि खण्डन न भी करते तो कमसे कम कहीं अपने सिद्धान्तके कट्टर विचार ही प्रकट करते। किन्तु विश्वासके साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैतके विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायणमें हैं ही नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
बहुत-सी बातें सबके मतमें एक-जैसी होती हैं, जो कि शास्त्रमें 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' कहलाती हैं; वे किसीके विरुद्ध नहीं पड़तीं। ऐसी बातें रामायण-में अवश्य मिलेंगी जिनकी उपपत्ति विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव साम्प्रदायिक मतोंमें भी हो सकती हैं, और शांकर अद्वैत सिद्धान्तमें भी हो सकती हैं। किन्तु, शांकर-अद्वैतके प्रतिकूल केवल साम्प्रदायिक वादमें ही उत्पन्न होने-वाले सिद्धान्त गोस्वामीजीकी रामायणमें कहीं उपलब्ध नहीं होते। इसके विपरीत साम्प्रदायिक मतोंके प्रतिकूल पड़नेवाले, केवल शांकर अद्वैतवाद या मायावादमें ही संगत होनेवाले विचार बहुधा प्रदर्शित हुए हैं, जैसा कि इस लेखमें अनेक जगह स्पष्ट दिखाया जा चुका है। तब फिर अद्वैतवादको वहाँ पूर्वपक्ष रूपसे कैसे माना जाये? और ऐसी दशामें यह भी मानना बुद्धिकी गवाहीके विरुद्ध है कि केवल ग्रन्थको सर्वप्रिय या दिन-प्रमित (अप टू डेट) बनानेके लिए ही गोस्वामीजी-जैसे महात्मा अपने अभिमत विचार लिखते गये, और अपने सिद्धान्तके मार्मिक विचारोंको उन्होंने स्थान तक न दिया। यह काम केवल सर्वप्रियता प्राप्त करनेके लिए लालायित, लोक-विदग्ध पुरुषोंका हो सकता है, भक्त महात्माओंका नहीं। फिर यह भी याद रखनेकी बात है कि गोस्वामी तुलसीदासने 'स्वान्तःसुखाय' 'राम-चरित मानस' लिखा है। 'अप टू डेट' बनानेकी आवश्यकता उन्हें नहीं थी। इसलिए उसमें उनके अनभिमत विचारोंका प्राबल्य हो ही नहीं सकता। और न केवल 'रामचरित मानस' में, किन्तु विनयपत्रिका आदिमें और भी स्फुट रूपसे गोस्वामीजीने अद्वैत सिद्धान्त या मायावादका प्रति-पादन किया है। एक यह भी विचारनेकी बात है कि गोस्वामीजीका समय साम्प्रदायिक उपासनाओंकी प्रबलताका समय था। उस समय सर्वप्रियताके लिए 'अद्वैत सिद्धान्त' की ही शरण जानेकी आवश्यकता नहीं थी। प्रत्युत् साम्प्रदायिक मत लिखनेसे ही उनको सर्वप्रियता प्राप्त हो सकती थी। फिर भी गोस्वामीजी अद्वैत सिद्धान्तका विशेष उल्लेख करते हैं, यह उनका अपने सिद्धान्तपर दृढ़ निष्ठाका प्रमाण है। अतः विचार करनेपर वे स्वयं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh
इस सिद्धान्तके अनुयायी थे, यही मानना विवश होना पड़ेगा।

रहा यह आक्षेप कि 'अद्वैतवादी होनेपर गोस्वामीजी रामभक्त न हो सकते' इसपर हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिन महानुभावोंके अन्तः-करणमें अद्वैतवादके लिए दूसरी ही वासना दृढ़ हो चुकी है, उनके मनमें यह प्रश्न उठता है। ये उसे 'प्रच्छन्न बौद्ध' 'नास्तिकवाद' 'कर्म-भक्तिशून्य' आदि कहते-कहते अपने संस्कारोंको वैसा ही बना बैठे हैं। किन्तु अद्वैत सिद्धान्तका माननेवाला 'आत्म-साक्षात्कार' या 'अविद्याबीज निवृत्ति' से पूर्व ही कर्म या भक्ति छोड़ दे, ऐसा कहीं नहीं लिखा। 'व्यावहारिक सत्तामें रहते हुए अद्वैतवादी कर्म, उपासना, भक्ति आदिका पूरा परिपालन करते हैं।' स्वयं भगवत्पाद श्री शंकराचार्यके भक्ति-रसाप्लुत-स्तोत्र मिलते हैं, अद्वैतवादके धुरन्धर आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती भक्तिमार्गके पूर्ण पोषक हैं। भक्तिका मर्म जैसा उन्होंने प्रकट किया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। वर्तमानमें भी अद्वैतके अनुयायी बड़े-बड़े विद्वान् पूरे कर्मकाण्डी और उत्तम भक्त होते हैं। फिर गोस्वामीजीके सम्बन्धमें ही क्यों यह आपत्ति उठायी जाये? इसकी उपपत्तिके लिए और ग्रन्थोंमें न भटककर गोस्वामीजीके ही –

जदपि असत्य देत दुख अहई। (बालकाण्ड)
सो दासी रघुबीर की समुझें मिथ्या सोपि।
छुटै न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥ (उत्तरकाण्ड)

ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयेउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
(उत्तरकाण्ड)

इत्यादि प्रकरणोंको ध्यानसे देख लिया जाये (जिनकी कि व्याख्या बहुधा इस लेखमें हो चुकी है) तो फिर कोई सन्देह न रहे। अद्वैत होनेपर भी भक्तिकी क्यों आवश्यकता है, यह स्वयं विदित हो जाये। गोस्वामीजीने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि केवल वाचिक ज्ञानसे ज्ञानी बनकर कोई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
कृतार्थ नहीं हो सकता। हमने सुन लिया और मान लिया कि माया और मायिक जगत् झूठा है। यों ही मुखसे कह भी दिया कि 'सब झूठा संसार' किन्तु काम पड़नेपर एक पैसेके लिए प्राण देते रहे, या हर एकसे लड़ाई-झगड़ाकर दूसरोंकी भलाई-बुराईकी चिन्तामें रात-भर सोये तो यह ज्ञान नहीं कहलाता। ज्ञान वह है कि प्रत्यक्ष आत्म-साक्षात्कार ही से दोष हट जाये, चित्त निर्मल हो जाये। इसीके लिए कर्म उपासना मार्ग सब आवश्यक हैं। यही शांकर सिद्धान्त है और यही गोस्वामीजीने लिखा है। बिना देखे और बिचारे हठ करनेका तो फिर कुछ उपाय ही नहीं है। अस्तु। तात्पर्य यह कि अद्वैतवादी होते हुए भी गोस्वामीजी भक्तिको क्यों उत्कृष्ट मानते हैं, यह उन्होंने स्वयं लिख दिया है, दूसरेके विचारकी वहाँ आवश्यकता नहीं।

कुछ सज्जन यह भी सन्देह करते हैं कि गोस्वामीजी अद्वैतवादी होते तो शैव होते, वैष्णव न होते। किन्तु यह भी पूर्ण भ्रान्ति है। अद्वैतवादी शिव या विष्णुकी उपासनामें किसी एक विशेषपर कभी ज़ोर नहीं देते। रुचि और अधिकारके अनुसार वे ईश्वरके किसी एक रूपकी उपासना करते हैं। स्वयं भगवान् शंकराचार्य अधिकतया विष्णुकी ही स्तुति करते हैं। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी तो साम्प्रदायिक वैष्णवोंकी तरह विष्णु-को परतत्त्व मानते भी नहीं, शिव विष्णु आदि औपाधिक (माया-गुणविशिष्ट) रूपोंको समान भावसे भजते हैं और 'राम' को परतत्त्व समझते हैं। राम उनके मतमें विष्णुके अवतार नहीं, परब्रह्मके अवतार हैं। वे 'बिधि-हरि-सम्भु नचावनहारे' हैं, और उनका बल पाकर 'बिरंचि हरि ईसा, पालत सृजत हरत हैं'।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भक्तिकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारतवर्षमें उपासना, ज्ञान और कर्मकी त्रिवेणी बहती आयी है। हमारा प्राचीन इतिहास हमें बतलाता है कि जहाँ उपनिषदों तथा दर्शनों-की अखण्ड ज्ञानज्योति प्रकाशमान है वहाँ विशाल मन्दिर, तीर्थ, आश्रम, गंगा, यमुना, अवतारोंकी कथाएँ ये सब भक्तिके जीते-जागते केन्द्र आज भी हमारे नेत्रोंके सामने हैं। भक्तिका यहाँ विशाल साहित्य है, जिसमें भक्तिकी इतिकर्त्तव्यता, उसका स्वरूप, उसका माहात्म्य और उसके आश्रय आराध्यदेवके गुणानुकीर्तनसे सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय ओतप्रोत है। शास्त्रानुमोदित कर्म, ज्ञान और भक्तिको जोड़नेवाली कड़ी हैं, जिनसे मिलकर एक अद्भुत त्रिवेणी संगम बनता है, यही संगम भारतीयोंको प्रिय रहा है और सदासे उन्होंने इसी संगमपर चरम सुख और शान्ति प्राप्त की है, जो कि सम्पूर्ण संसारका अन्तिम लक्ष्य है।

वर्तमानमें यह भी एक बड़ी भ्रान्ति है कि दर्शनका और भक्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो दार्शनिक विद्वान् है वह भक्तिसे दूर ही रहेगा, भक्ति उसके लिए एक बनावटी चीज़ ही रहेगी, और जो भक्त पुरुष है वह ज्ञानकी बातोंसे दूर ही रहेगा। पाश्चात्त्य देशोंमें अवश्य ऐसे ही उदाहरण मिलेंगे, परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास इसका साक्ष्य नहीं देता। यहाँ तो हम देखते हैं कि जिन आचार्योंने दर्शनके क्षेत्रमें किसी नवीन मतका प्रवर्तन किया वे अपनी एक नयी पद्धति भक्तिमार्गमें भी जोड़ गये, अतः इष्टदेवकी आराधनाके जितने मार्ग हमें भारतमें दिखाई देते हैं उसके पीछे उतने ही दार्शनिक विचार भी हमें मिलेंगे। इससे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
स्पष्ट हो जाता है कि दर्शनका और भक्तिका गहरा सम्बन्ध है जो कि अविभाज्य है, एकके बिना दूसरा रह ही नहीं सकता।

भक्तिकी उत्पत्ति और वृद्धिमें भी ज्ञानका साहाय्य रहता है। बात भी ठीक है, जबतक आराध्यके स्वरूप आदिका ज्ञान न हो जाये तबतक भक्तिका आश्रय हो क्या होगा।

यही बात भक्तिका लक्षण करते हुए भक्तिमार्गके परमाचार्य श्री वल्लभाचार्यने कही है कि –

माहात्म्यज्ञानपूर्वंवस्तुसुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः—

अर्थात् भक्ति उस सुदृढ़ और सर्वाधिक स्नेहका नाम है जो कि आराध्यदेव में उनके माहात्म्यको जानकर किया जाता है। यह प्रेम सुदृढ़ और सबसे अधिक होना चाहिए। स्नेहके पात्र संसारमें स्त्री पुत्रादि अनेक हैं। परन्तु उन सबसे अधिक स्नेह जब आराध्यदेवमें होता है तब उसी स्नेहको भक्ति कहते हैं, भक्तिमें स्नेह अस्थिर कभी नहीं होता वह सुदृढ़ होता है। आराध्यमें स्नेहकी यह सुदृढ़ता दार्शनिक चिन्तनसे ही प्राप्त हुआ करती है। आराध्यकी सर्वशक्तिमानतामें तत्त्वचिन्तनसे ही विश्वास बनता है। भारतीय दार्शनिक आचार्योंने समस्त संसारका एक ही मूल तत्त्व निश्चित किया है। उस आदि तत्त्वके अनन्त नाम और रूप हैं। भक्त अपनी भावनाके अनुरूप किसी निश्चित नामरूपका ग्रहण कर लेता है और उसको ही मन, वचन और काया समर्पित कर देता है। वही उसका सबसे बड़ा आश्रय बन जाता है। इस स्नेह या समर्पणमें विद्या, जाति आदिका भी कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाता। आराध्यके प्रति सुदृढ़ और अविचल स्नेह ही अपेक्षित है, वह स्नेह केवल मनुष्योंमें ही नहीं समस्त प्राणि-वर्गमें उत्पन्न हो सकता है; भगवान्के भक्तोंमें व्याध, गजेन्द्र, शबरी, कुब्जा आदि सभी वर्गोंका स्थान है। प्रहलाद और ध्रुव-जैसे अबोध शिशुकी अवस्थावाले भी भक्तराज हैं, व्रजकी अपढ़ गोपांगनाओंकी चरण-रजके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh
लिए भी बड़े-बड़े भक्तकवि विह्वल हैं। दर्शन-चिन्तनसे जब मनमें एक मूल तत्त्वकी बात जम जाती है तब यह भी निश्चित हो जाता है कि वही एक अनादि और सर्वत्र व्यापक भी है। वही संसारके अणु-परमाणुओंमें व्याप्त है, वह निरतिशय प्रभाव रखता है, वेद-शास्त्रादि सम्पूर्ण वाङ्मयका वही एकमात्र विषय है। संसारका कोई भी अंश उससे अलग नहीं है, बस तभी उसमें मिल जानेकी और उससे एकाकार हो जानेकी अदम्य अभिलाषा जाग्रत हो जाती है, उसीका नाम भक्ति है।

सांख्य दर्शनके अनुसार बुद्धि तत्त्वके आठ रूप होते हैं, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तथा अधर्म, अज्ञान अवैराग्य, अनैश्वर्य, इनमें-से आदिके चार रूप ईश्वरमें भी हैं तथा जीवमें भी हैं, आगेके अधर्मादि चार भेद केवल जीवमें ही माने जाते हैं, ईश्वरमें उनका स्पर्श भी नहीं है, वास्तवमें तो अन्तके अधर्मादि बुद्धिके चार रूपोंको स्वीकार करनेके कारण ही जीव ईश्वरसे पृथक् हो गया है, अन्यथा जीव और ईश्वरमें कोई भेद है ही नहीं। इन्हीं बुद्धिके रूपोंका परिग्रह करके वह नित्य कष्ट और आवागमन चक्रमें पड़ा रहता है और इस बन्धनसे छूटनेकी उसकी अभिलाषा रहती है। इससे छूटनेका एकमात्र उपाय यही शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि बुद्धिके अधर्मादि चारों तामसिक भेदोंको दबाकर तथा धर्मादि सात्त्विक भेदोंको अपनेमें जगाकर ईश्वरोन्मुख हो जाना जीवनका कर्तव्य मान लिया जाये। उनमें चौथा जो ऐश्वर्य है उसको प्रधान बनाकर ईश्वरोन्मुख होनेका नाम ही भक्तियोग है, इसका भारतीय दर्शनोंमें सर्वत्र प्रतिपादन मिलता है।

भक्तिके द्वारा ईश्वर तक पहुँचनेके लिए भक्तिमार्गके पथिकको ग्यारह भूमिकाएँ पार करनी होती हैं—१. प्रथमं महतां सेवा, २. तद्दया पात्रता ततः, ३. श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु, ४. ततो हरिगुणश्रुतिः, ५. ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः, ६. स्वरूपाधिगतिस्ततः, ७. प्रेमवृद्धिः परानन्दे, ८. तस्याथ स्फुरणं ततः, ९. भगवद्धर्मनिष्ठाऽतः, १०. स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता ११. प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठा। (भक्तिरसायन)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन भूमिकाओंमें प्रथम है महापुरुषोंकी सेवा। सेवासे हृदयकी चंचलता शान्त होकर धैर्यका उदय हो जाता है। सेवाके अनन्तर उन महापुरुषोंकी कृपा-पात्रता प्राप्त होना दूसरी भूमिका है। तब वे महापुरुष जिन कार्योंमें अभिरुचि रखते हैं उनमें श्रद्धाका उत्पन्न हो जाना तीसरी श्रेणी है। इसके अनन्तर आराध्यका गुणानुवाद सुननेको मिलता है, वह चौथी भूमिका है। गुणानुवाद श्रवणके अनन्तर आराध्यमें प्रेमका उत्पन्न हो जाना पाँचवीं श्रेणी है। आराध्य देवका और अपना स्वरूपज्ञान हो जाना छठी कक्षा है। शनैः-शनैः सभी स्थितियोंमें परम आनन्दकी अनुभूति प्राप्त हो जाना सप्तम श्रेणीमें सुलभ होता है। समय-समयपर उस आनन्दका स्वतः स्फुरण होने लगना अष्टम निःश्रेणिका है। अब आराध्यके धर्मोंमें निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, और आगे भगवान्‌के गुणोंका भक्त अपने भीतर भी अनुभव करने लगता है, और अन्ततः आराध्यके साथ अपने-आपको एक कर देना जो कि प्रेमकी पराकाष्ठा है वह भी उसे सुलभ हो जाती है, वही जीवनका चरम लक्ष्य है। यह भूमिका दार्शनिक पृष्ठभूमिपर ही आधारित है। दर्शनोंमें भी परम तत्त्व-का स्वरूप सत्ता, चेतना और आनन्दमय है। भक्तिकी भी चरम श्रेणीमें आनन्दमयता ही है। दर्शन और भक्तिके क्षेत्रोंमें यही भेद बतलाया जाता है कि दर्शनकी चरम-उपलब्धिमें ज्ञान मुख्य है और भक्तिको चरम सीमा निस्सीम आनन्द है। परन्तु वस्तुतः परमतत्त्वके स्वरूपमें सत्ता चेतना और आनन्द तीनों तत्त्व सन्निविष्ट हैं। यद्यपि ज्ञान, कर्म और और उपासना इन तीनों ही मार्गोंसे परमतत्त्व तक पहुँचा जा सकता है तथापि भक्ति-मार्ग इनमें सरल माना गया है और उसमें साथ ही साथ आनन्दका अनुभव होते रहनेसे इस मार्गमें मनुष्यकी प्रवृत्ति भी भली भाँति हो सकती है। इसी आशयसे गीता भागवत आदि ग्रन्थोंमें भक्तिको ही भगवत्प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय माना है।

■

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

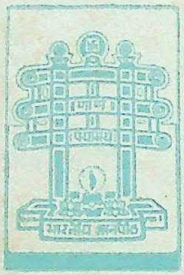

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

•

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखक

(जन्म : ज़यपुर, २९ दिसम्बर १८८१)

संस्कृत भाषा और साहित्यके अप्रतिम मनीषी विद्वान् । वेद और दर्शन ग्रन्थ प्रारम्भसे ही प्रिय और अध्ययनका विषय ।

महामहोपाध्याय, महामहोपदेशक, साहित्यवाचस्पति, विद्यावाचस्पति, वाचस्पति आदि अनेक उपाधियों तथा स्वयं राष्ट्रपति-द्वारा भी सम्मानित । प्रमुख विश्वविद्यालयों, शिक्षण संस्थाओं, और साहित्यिक संस्थाओंसे विशिष्ट रूपसे सम्बद्ध । दो बार 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' निर्णायक मण्डलके सभापति ।

अनेक मौलिक तथा अनूदित कृतियोंमें प्रमुख : साहित्य अकादेमी-द्वारा पुरस्कृत 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', 'प्रमेय पारिजात', 'गीता व्याख्यान', 'महाकाव्यसंग्रह', 'चातुर्वर्ण्य', 'वेद विज्ञान बिन्दु', 'पुराण पारिजात' आदि । 'संस्कृत रत्नाकर', 'संस्कृत', 'ब्रह्मचारी', 'वैष्णव धर्मपताका' आदि सावधिक पत्रिकाओंका सम्पादन भी ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक-साहित्यका निर्माण

•

संस्थापक

साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५